कै० चि० श्रीमंत शंकर यादव (उर्फ)
बापूसाहेब जामदार.
ज. श, १८१३ चैत्र शु. ९] [मृ.] श.१८४३ चै. शु.३

अर्पण पत्रिका ।

पुत्र ! अल्पावस्थामें ही तुम को श्रीगुरु रावोबा महाराजजी का शिक्षाप्रसाद, गायत्रिपुरश्चरण, वृद्ध और विप्रों की सेवा, महात्मा श्रीसांई विलायत अलीशा साहब का समागम, इत्यादि अनेक लाभ प्राप्त होते गये । ऐसा सुयोग पोढे पूर्वपुण्य के विना नहीं जुड सकता । उसी का फल यह हुआ कि तुह्मारा प्रेम तुलसीरामायण में जोरोंसे वढता रहा ।

वडी ही उम्मीद रही कि तुह्मारी सहायतासे हमें गोसांईजीकी कुछ सेवा हासिल होगी । परंतु अपने ऋणानुबंध का मोक्ष अनपेक्षित जल्द हो जानेके कारण ' मन की मन में रही ' ऐसाही हुआ । हमारा यह सुदैव या दुर्दैव, ईश्वर ही जाने ।

यही हाल तुह्मारा भी हुआ । हमारे नानाके श्रीलक्ष्मीनारायण देवस्थान के जीर्णोद्धार की तुह्में हार्दिक इच्छा रही । परंतु ' मनसा चिन्तितं कार्यं दैवमन्यत्र चिन्तयेत् ' यही वात हुई, और वह इच्छा हमें सौंप कर तुह्में अपनी सांसकी गिनती पूरी करनी पडी ।

इस प्रकार हम पर दो कर्तव्यता वीतीं । परंतु तुह्मरे निजी और तुह्मारे पूर्वजोंके पुण्यप्रताप से, तथा संत गुरु, देव और ब्राह्मण की कृपासे परम समाधानपूर्वक ' सुखी न भयउं अबहि की नाईं ' कहने का सुदिन हम पर आज भोर हुआ है । इधर तुह्मारे परनाना के देवस्थान का जीर्णोद्धार श्री लक्ष्मीनारायणजीने हम से करा लिया, तो उधर हिंद के परनाना गोसांईजी ने भी अपना उधार हम से अदा करा लिया ।

प्रिय पुत्र ! गंगाजी के जल का उन्हीं को अर्घ्य इस न्याय से यह मानस-विहारी हंस मानस के स्वामी को तुह्मारी याद में अर्पण होता है । अव तुम उन्हीं के गांव के वासी हो । इस लिये हम तुम्हीं से विनय करते हैं । हमारे लिये उनके चरणों से तुह्मारी प्रार्थना हो कि तुह्मरे जन्मदिन का स्मृतिशेष समझकर यह हमारी अंतिम आयुःखंड में की भलीवुरी सेवा शबरी के वेर सरीसी उन्हें प्यारी हो ।

नागपूर संवत १९८३ रामनवमी	}	तुह्मारा कृतज्ञ ऋणानुबंधि यादव शंकर जामदार.

अनुवादकके दो शब्द.

—:o:—

' It is we who change towards Him,' not he
towards us,
As therefore to the sun, nor east nor west,
Nor day nor night is, bnt one timeless noon,
So from the Lord of Life unbounded beams,
One everlasting effluence, which is love,
To gain this, to prepare for this, is all,'

Baille.

सारांश

' स ईश्वरोऽनिर्वचनयिः प्रेमस्वरूपः । ' नारद भक्तिसूत्र

इन उपरनिर्दिष्ट अवतरणोंका मुख्य हेतु, केवल अनुवादक की भूमिका स्वीकृत करने का असली कारण दर्शाने का ही है। प्रतिष्ठा, अर्थलाभ इत्यादि का इसमें लेशमात्र भी उद्देश नहीं। यदि तुलसीरामायण, मेरे अत्यंत प्रेम और आदर की पुस्तक न होती और उसपर ग्रंथकार के अनेक शोधक, मार्मिक और नवीन विचार मुझे मानसहंस में प्रतीत न होते, तो शायदही मैं अपना अमूल्य समय इस काम के लिये दे सकता। इस में संदेह नहीं कि किसी भी ग्रंथका परिशीलन करनेकी रीति, इस छोटीसी पुस्तक ने बहुतही मार्मिक तौरसे दिखलाई है।

महाराष्ट्र में मानस तथा मानस–हंस का योग्य गौरव करने की पात्रता अवश्य है। परंतु अपरिचित भाषा होनेके कारण उस पात्रका प्रवेश

उनमें अच्छी तरहसे न हो सकना स्वाभाविक है। इसी कारण महाराष्ट्र की पात्रता का लाभ मानस या मानस-हंसको यथार्थतया नहीं हो सका। जबतक हिंदी राष्ट्रीय भाषा न होगी, तबतक ऐसी स्थिति कायम रहना अस्वभाविक नहीं। मानस-हंस के संबंधमें महाराष्ट्र के अनेक उत्तम अभिप्राय आये हैं, परंतु सच्चा सच्चा महत्त्व तो हिंदी भाषा भाषियों के अभिप्रायों को ही दिया जा सकता है, कारण वे ही इसपर साधिकार लिख सकते हैं।

केचित् वृत्तपत्रकारोंने प्रथित किया है कि:—(१) रामायण की रचना में गोसांईजी का उद्दिष्ट प्रत्यक्षतः लोकशिक्षा न था, और उसमें जो इतस्ततः लोकशिक्षा झलकती है वह केवल आपातत: आई हुई है। [२] और उनका असली हेतु केवल एक काव्यसौष्ठव ही था। बात (१) के विषय में इतनाही लिखना बस होगा कि मानस नहीं तो नहीं, परंतु केवल एक मानस-हंस भी पूर्णतः विचार पूर्वक पढनेमें आता, तो शायद ही उनके अभिप्राय ऐसे विपर्यस्त निकलते। सिवाय, श्री. जामदार जीने दिये हुये सेकडों प्रमाणों में से एक दो की तो भी अनुपपत्ति अपने मतके पुष्टयर्थ दिखलानेका प्रयत्न वे अवश्य ही करते।

दूसरी बात:—यदि क्षणभरके लिये मान लिया जाय कि रामायणकी रचना में गोसांईजी की केवल काव्यसौष्ठव परही एकतान दृष्टि रही, तो यही कहना बाध्य होगा कि उनकी लोकैषणा बहुत ही प्रबल थी, क्योंकि उन्होंने ग्रंथारंभ में ही काव्य का सार्वत्रिक प्रचार होने की घोषणा कर रखी है। परंतु ऐसी प्रदीप्त लोकैषणा होना यह एक बडा भारी दंभाचार है। अर्थात् उक्त अभिप्राय से तुलसीदासजीपर दांभिकता का दोष आक्षिप्त होनेका संभव है। परंतु यह सर्वथैव अनुचित है। जिन्हें अब भी कुछ शंका हो, उन के लिये हम अपने कर्तव्यानुसार नीचे दिये हुए प्रमाण दिखला देते हैं:—

1 M. G. Randae's Rise of the Maratha power, Part 1-Indian Saints.

2 Sirdesai's History of Modern India Part II, maratha Peroid Vol I, chap. 2, Work of the Deccan Saints

३ रामदास गौडवाली रामचरित मानस की भूमिका—तुलसी-चरित चंद्रिका Chap. 16 [लोकसंग्रह अवतार का हेतु]

४ मानस-हंस [विशेषतः, समाजशिक्षा और उपसंहार]

अस्तु, ऊपर की बातों का कुछ बडासा महत्व नहीं । असली मतलब की बात कुछ और ही है जिसकी ओर हम वाचकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं । मराठी मानसहंस की प्रस्तावना में पृ. ५ पर ग्रंथकार ने कहा है कि अध्ययन योग्य गुरु के पास होना चाहिये । योग्य गुरु के बारे में उनकी विचारप्रणाली बडी ही सयुक्तिक जान पडने के कारण उसका उल्लेख करना हम अत्यंत आवश्यक समझ कर यहां देते हैं ।

उनकी दृष्टि में मुख्यतः निम्नलिखित तीन बातें दिखीं:—

(१) योग्य गुरु की आवश्यकता ।

(२) उसके अभाव में हानि ।

(३) उसका कर्तव्य ।

[१] कोई भी काम या व्यवसाय हो, उसके करने की दिशा पहिले ही विचारपूर्वक और स्पष्टतासे निश्चित होनी चाहियें; कारण सारा भावी यशापयश उसीपर अवलंबित रहता है । गृहस्थाश्रमी का तो इस पर तनिक भी अलक्ष न होना चाहिये । घर के मुखियाने घरभर की प्रकृति और स्वभाव उत्तमतासे पहिचान कर तदनुसार सभीको

अच्छे ढंग पर लाना चाहिये । छोटे बालकों के विषय में तो इस बातपर ध्यान देना अत्यावश्यक है । परंतु बहुधा सभी कुटुम्बों में इस बात की लापरवाई की जाती है । बच्चों के प्राकृतिक गुणदोषों का विचार गृहचालकों की निगाह में आता ही नहीं । और इसी के कारण आगेसे चली आई हुई शिक्षा प्रणाली में बालक ढकेल दिये जाते हैं, जिससे उनके बुद्धिपर मोर्चा चढता जाता है, यहांतक कि अन्त में उनका जीवन बडा ही कष्टमय हो जाता है । उदाहरण के लिये आज ऐसे हजारो लोग विद्यमान हैं कि जिनकी पात्रता कुछ और, परंतु व्यवसाय कुछ और ही होने के कारण उनके आयुष्य की बिलकुल मिटी बन गई है । इससे यही सिद्ध होता है कि घ चालकों में अच्छे गुरुत्वकी अत्यंत आवश्यकता है ।

[२] अब योग्य गुरु के अभाव के कारण होनेवाली हानि का विचार करें । मनुष्यमात्र की अवस्थामें चार प्रकार की शिक्षायें पाई जाती हैं । उनमें आद्यस्थान गृहशिक्षा का है । लडकों में स्वाभिमान, देशाभिमान और पूर्वपीठिका के संबंध में आदर उत्पन्न करना यही, इस शिक्षा का मुख्य उद्देश है । अन्यत् इसके विषय में अत्यंत ही दुर्लक्ष हो रहा है । यही कारण है कि बच्चों के प्राथमिक संस्कार आरंभ से ही अशुद्ध होकर बिगडते चले जाते हैं । इसका परिणाम यहांतक देखने में आता है कि आज कोई किसी को कहे कि अपने हरएक नित्यनैमित्तिक कर्म के प्रास्ताविक संकल्प में देश, काल, आदिका उच्चार नियत कर देने में संकल्पकारका हेतु यही था कि उस संकल्प के द्वारा शुद्ध, सात्विक देशाभिमान, स्वाभिमान और पवित्र पूर्वपरंपरा इनकी अखंड स्मृति की शिक्षा अचल मिलती रहे, तो उसपर प्रायः नियमसे यही उत्तर मिलता है कि स्वाभिमानादि गुणों की शिक्षा हिंदने केवल एक ईसाईयों से पाई है, न कि हिंद के प्राचीन वाङ्मय से । प्राथामिक उत्तम संस्कारों के अभाव में यदि ऐसे अनन्वित और हास्यास्पद उत्तर सुनने में आवें तो आश्चर्य ही क्या ?

दुसरी शिक्षा पाठशाला या मदारसों द्वारा पाई जाती है । उसकी भी दशा पहिली शिक्षा के ही समान है। कोईभी विषय हो उसका आदर्शभूत सार सिखलाने की पृथा ही नहीं । लडकों को केवल शब्दज्ञानी कर देने से शिक्षक स्वयं को कृतकार्य समझता है । फिर यदि छात्रवर्ग शोधक, मार्मिक और सारग्राही न निकल सका तो उसमें उसका दोष ही क्या ? उदाहरणार्थ, रघुवंश का दूसरा सर्ग पढाने को लिया तो अध्यापक पहिले श्लोकका सार यही समझाता है कि राजा दिलिप पुत्रसंतान की प्राप्ति के हेतु सुदक्षिणा [राजमहिषी] को साथ ले गुरु वसिष्ठजी की धेनु चरानेके लिये बाहर निकल पडे । उस श्लोक में शास्त्रीय (कर्म, उपासना संबंधि) या व्यावहारिक बोध कवि की ओर से क्या और कैसा देने में आया इन बातों से बेचारा अध्यापक स्वयं ही अनजान होने के कारण वह लडकों को क्या समझावेगा ? इसका अंत मे परिणाम यही होता है कि हमारे पदवीधरों का प्रमाण इधर दिनपर दिन बढते हुए भी उनकी शुद्ध विचारस्फूर्ति तथा शालीनता का प्रमाण दिनोदिन कम ही होता जाता है ।

समाजशिक्षा यह तीसरा शिक्षासंस्कार है । परंतु इस शिक्षाका लाभ आज जिस प्रकार हो रहा है वह भी विचारणीय है। बडे २ विद्वान् और प्रसिद्ध व्याख्याते कण्ठशोष से समाजको समझाते हुए नजर आते हैं कि छत्रपति शिवाजी के पुत्र संभाजी ऐसे मूर्ख निपजे कि उन्होंने जरासे में ही सारा स्वराज्य डुबा दिया । इससे तो उलटे उन्हीं के अपक्व संस्कारों का तमाशा दिखता है । यह स्पष्ट है कि स्वराज्यको ही ध्येय समझकर उन्होंने अपना प्रमेय स्थापित किया । भारतकी पूर्वपीठिका का विचार करनेसे यही प्रतीत होगा कि उस में जब जब स्वराज्य के लिये आन्दोलन होता गया तब तब वह स्वधर्म के लिये ही था, न कि केवल एक

स्वराज्य के लिये । छत्रपति शिवाजी महाराज का भी हेतु स्वराज्यस्थापना में स्वधर्म का ही था । तात्पर्य, सनातन से भारत का ध्येय धर्म, और उसका साधन स्वराज्य, ऐसा ही रहता आया । एवं हिंदुस्थान का इतिहास केवल स्वराज्य का इतिहास समझना बडी भारी भूल है । सत्य यही है कि उसका यथार्थ इतिहास ज्ञात होने के लिये उसके धर्म की आलोचना करने की अत्यंत आवश्यकता है । इतना यदि स्वीकृत कर लिया जाय तो विचार की दिशा बदलकर वहाँ सर्वथैव विरोधी प्रमेय दिखने लगेगा । स्वधर्म के लिये अमानुष क्लेश [औरंगजेबने दिये हुये] सहकर संभाजी महाराजने आत्मयज्ञ कर लिया, यह बात इतिहाससे ही प्रमाणित है । स्वभावतः ही इसका परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र में स्वधर्म का अभिमान, मुगलों से घृणा और द्वेष, और परिणाम में दक्षिणका संगठन ये बातें आप से आपही होतीं गईं । इसका आखिर फल यह हुआ कि दख्खन मुगलों के काबिज तो हुई ही नहीं, किंतु दख्खनने ही उत्तर काबिज कर उसपर अपनी बुद्धि, बल और वीरता का श्रेष्ठत्व स्थापित कर दिखलाया । अन्यथा, यदि औरंगजेब के प्राणदान देनेपर संभाजी यावनी धर्मका स्वीकार कर लेता तो भोसलों के वंश का क्षात्रियत्व कायम रहना, उनके छत्र के नीचे पूने में पेशवाई की स्थापना होना, और ई स. १८१७ [याने अंग्रेज और पेशवा से खडकी की लढाई] तक स्वराज्य स्थिर रहना, इतनी बातें कदापि न हो सकती । यों तो कोई भी न कह सकेगा, कि संभाजी का स्वैरवर्तन हुआ ही नहीं । परंतु उनके ऐसे वर्तन से स्वराज्य डूब गया, ऐसा कहना यानी निजका अज्ञान प्रगट करते हुए इतिहास का विपर्यास करनाही होता है । हमारे विचार से संभाजी के स्वैरवर्तन से उनके पिताका फलोन्मुख स्वराज्यवृक्ष उनके द्वारा कलम किया गया, एवं उसकी बाढ कुछ समय तक रुकी रही, परंतु उन्होंने उस वृक्ष की जड ऐसी गहरी जमा दी कि जिससे वह वृक्ष जोरोंसे बढता चला

और उसकी विस्तृत और घनी छाया तथा मीठे फलों का आस्वाद हिंद को कई वर्षोंतक अव्याहत मिलते रहा । अब आपही देखिये कि संभाजीने स्वराज्य डुबाया इस विधान की सत्यता कहांतक पटने लायक हो सकती है ? इससे यही सिद्ध होता है कि समाज शिक्षकोंमें भी सच्ची गुरुता का अभाव है ।

अब रही चौथी यानी अंतिम शिक्षा । यह शिक्षा नागरिक अवस्था में देश के नेताओं के द्वारा मिलती है । उसका भी परीक्षण करना अवश्य है । इसके विषय में बहुत पीछे जानेकी आवश्यकता नहीं । प्रचलित मनु की ओर दृष्टि देने से ही अपना काम चल सकेगा । सभी जानते हैं कि ई० स० १९२० में जबसे अनत्याचारी असहकारिता का तत्व प्रख्यापित हुआ, तभीसे प्रस्तुत मनु का प्रारंभ हुआ । परंतु इस छः साल की अवधि में 'अनत्याचारी' शब्द की उपपत्ति जैसी की तैसी ही कायम रही । हमें शंका नहीं कि तत्व के उत्पादक का ध्यान यदि उसकी उपपत्ति की ओर गया होता तो प्रतियोगी सहकार का पक्ष कदापि उत्पन्न न होता, और यदि होता भी तो इन दो दलोंमें आज जो लंकाकांड मच रहा है उसका नाममात्र भी न दिखता । इतना ही नहीं, किन्तु दोनों दल सहमत होकर बडी भिन्नता से सहकार्य करते हुये आज हमें दिखाई देते । इसी विषय की अब थोडी समालोचना करें । सारी कुंजी 'अनत्याचारी' में के 'आचार' शब्द में है । 'आचार' याने 'वर्तन'। यह वर्तन प्रवृत्ति (व्यवहार) और निवृत्ति (परमार्थ) में समस्वरूप से नहीं रह सकता । नीचे के दो प्रमाणों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है:—

(१) आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोष : .... ॥

(अर्थः–शस्त्रपाणी चढकर आया तो बिना विचारे उसे जानसे मार डालना चाहिये । ऐसे को मारने में दोष नहीं है । स्मृतिवाक्य)

(२) क्षमा शत्रुषु मित्रेषु यतीनां सैव भूषणम् ।
क्षमा शत्रुषु मित्रेषु राजानां सैव दूषणम् ॥

अर्थः–शत्रु और मित्रों पर एकसहा क्षमा करने में ही यति का भूषण है, परंतु वही राजा के लिये केवल दूषणावह है ।)

इससे यह प्रमाणित होता है कि ध्येय के अनुसार आचार का स्वरूप होना चाहिये । जब कि देश के राजकारण के लिये ही अनत्याचारी असहकारिता की उत्पत्ति हुई, तब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके प्रणेता का ध्यान प्रवृत्तिपर था । अतएव अनत्याचारी में का आचार प्रवृत्तिपर ही समझना बाध्य है ।

गीतामें प्रवृत्तिपर आचार 'ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्' याने जैसे से तैसा इस प्रकार निवेदित है । इसमें से निम्नलिखित तीन बातें विदित होती हैं:—

(१) जैसे से तैसा यह आचार है ।

(२) जैसे से तैसा न होना यह अत्याचार अथवा अनाचार, अर्थात् अन्याय, है ।

[३] परंतु जो अत्याचार नहीं वही अनत्याचार है । अर्थात् वही आचार है । याने अनत्याचार और आचार दोनों शब्द समानार्थक हैं ।

इस कथन के अनुसार अनत्याचारी असहकारिता का स्वरूप आचारयुक्त असहकारिता हुआ । परंतु आचारयुक्त असहकारिता याने जैसे से

तैसी असहकारिता। इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि असहकारिता का योग असहकारिता से ही किया जावे, न कि सहकारिता से। अन्यथा वह अत्याचार समझा जावेगा।

अब यदि प्रतियोगी सहकारिता का निरीक्षण किया जावे तो स्वरूप में सहकार से सहकार और असहकार से असहकार इस प्रकार से वह बोली जाती है। तो फिर कोई भी कह सकेगा कि वह अनत्याचारी असहकारिता की सौत न होकर प्रत्यक्ष उसके पेटकी बाला है। वास्तविक में ऐसा होने पर माता अपने प्रत्यक्ष बेटी को यदि पापजात कहकर उसपर अङ्गार बरसावे, तो लोक ऐसी माताका धिःकार क्योंकर न करें?

परंतु इन दोनों भी दलों से अपना प्रयोजन नहीं। उनके तरफ देखने का प्रयोजन इतना ही है कि देशमें बडे २ महात्मा और अध्वर्युमें भी गुरुत्व का अभाव होने के कारण नागरिक स्थिति में भी हमारी शिक्षा बराबर रीतिसे नहीं होती।

इस विस्तृत विवेचन का निष्कर्ष यही हुआ कि भारतवासी जन जो प्रतिदिन अत्यंत हीन और दीन हो रहे हैं उसका मुख्य कारण योग्य गुरुका अभाव ही है। यहीं देखिये कि यदि यह अभाव न होता तो आजके जैसे मानसविहारी हंस कितने ही दृग्गचर होते।

रहा योग्य गुरुका कर्तव्य। विषय बडा ही व्यापक होने के कारण हमारे दो शब्द के हद के बाहर हो जावेगा। इसी डरके कारण सारांश में ही कहना अब ठीक होगा कि देश, काल, मर्यादा, साधनसामग्री, परंपरागत संस्कृति, प्राप्त परिस्थिति, इत्यादिकों का पृथक्तया और समुच्चय से विचार करके अपनी शिक्षा से जनता के अच्छे संस्कारों को जो अधि-काधिक ऊर्जित करे वही योग्य गुरु समझना चाहिये।

अब एक भावनात्मक विचार पाठकों के आगे रखकर हम अपने च्यार शब्द पूरे करेंगे । हिंदुस्थान सनातन से ही भावनाप्रधान देश है । उसके विचार की पूर्वपीठिका यदि सूक्ष्म रीति से अवलोकन की जाय तो यही प्रतीत होगा कि दुष्टोंने देशपर आपत्तियां लाईं कि उनके निवारणार्थ सुष्टोंने ईश्वर की स्तुति करना और ईश्वर ने अवतार लेना । अवतारों की परंपरा इसी कार्यकारण भावसे सनातनसे चली आती है । श्री समर्थ रामदासजी को श्री हनुमानजी का अवतार मानने की दक्षिण में पृथा है । उक्त कारणकार्यभावके अनुसार श्री समर्थजी के अवताररूप कार्य के लिये कोईना कोई सिद्ध अवश्यमेव कारणीभूत हुआ होगा । सिद्ध पुरुष तो उस समयमें अनेक थे ही, परंतु जिनके संबंधमें कुछ अनुमान कर सकें ऐसे वे सिद्ध कौन थे यह विचारणीय बात है ।

इस प्रश्न की उपपत्ति दो और दो चार के प्रणाली से नहीं हो सकती, केवल भावना से ही यह प्रश्न सुलझ सकता है । और उस भावना का आधार संतों की वाणीमें या योगसंयोग में ही पाया जावेगा । गोसांईजी के समकालीन कवियों के काव्यपर से दिख पडता है कि देश की दीनता को देख गोसांईजी जैसे करुणा आलाप किसी के न निकले । देश की दैन्यावस्था को देखकर आर्तस्वर से अपने इष्टको मनानेवाली गोसांईजी की वह उज्वल मूर्ति विव्हल अंतःकरणसे करुणाश्रु बहाती हुई आज भी उनकी कविता से दृष्टिगोचर होती हैं । उनकी वह करुणा इतनी द्रावक है कि मनुष्य और देवताओं की तो कथा ही क्या, निर्जीव पदार्थ तक पसीज जावें । तो क्या ऐसे भक्तोंके हार्दिक विलाप खाली ही गये होंगे ? यदि नहीं, तो श्रीतुलसीदासजी ही श्रीसमर्थावतार का कारण हुये तो आश्चर्य ही क्या ?

रहा योगसंयोग । इसके विचार के लिये निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देना चाहिये:—

(१) गोसांईजी के समकालीन संतोने अपनी जीवनयात्रा साधारणत: शीघ्र ही समाप्त की। गोसांईजी ही नब्बे वर्षकी आयुतक पहुंचे। इससे क्या दिखता है ?

(२) उनके देहविसर्जन के समय श्री समर्थजी की आयु लगभग सोलह वर्ष की थी, और उनका तीसरा गायत्रीपुरश्चरण चला था।

[३] संतोके बेतारी तारायंत्र में जिन्हें विश्वास हो वे कह सकें गे कि गोसाईजीने देहोत्सर्ग तभी किया जब उन्होंने देखा कि उनके इष्ट (हनुमानजी याने श्री समर्थजी) अपने इष्टकार्य के पूर्वोद्योग में लग चुके। कदाचित् इसपरसे ऐसी शंका निकाली जाय कि श्री समर्थजीने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में क्योंकर रखा ? तो इसका निरसन श्रीकृष्णचरित्र से तुरन्तही हो जावेगा। अधिक कहनेकी जरूरत नहीं।

हमने अपनी एक भावनात्मक कल्पना पाठकों के सन्मुख रखी है। वाचक स्वयं ही सूज्ञ हैं। भावना के संबंधमें वादविवाद निरर्थक है।

मुख्य निवेदन तो हो चुका। अब हमें थोडासाही कहना है, और वह यह कि मराठी और हिंदी मानसहंस के विषय-व्यवस्थामें कुछ अल्पसी भिन्नता दिख पडेगी। परंतु ग्रंथकार के सम्मति से ही हमने वह काम किया है। इसके सिवाय हमारी सूचना के अनुसार ग्रंथकारने इस अनुवाद में कुछ चुने हुये विषय भी बढ़ा दिये हैं।

सभी बातें समधान कारक हुई। केवल एक बात से असमाधान होता है कि मराठी मानसहंस के हिंदी भाषांतर की शुद्धि रायपुरनिवासी कै० सप्रेजी से करवाली थी। तत्पश्चात् मराठी मानसहंस में के कई एक भाग निकाले गये, कई एक बढाये गये, कई एक नये जोडे गये। परंतु कै० सप्रेजी के अस्वास्थ्य के कारण नये भागों की शुद्धि उनसे न हो सकी।

इसलिये पुस्तक की भाषा के संबंध मे शंका होती है। इस शंका का निवारण हम और किसी से करा लेते, परंतु इधर गोसांईजी की पुण्यतिथी अत्यंत निकट पहुंच जानेके कारण छपाई का काम जोरोंसे चलाना पडा, और समय के अभाव में शंका की निवृत्ति करा लेना दुष्कर हुआ। इस के अतिरिक्त अच्छे मुद्रणसंशोधकों के अभाव से पुस्तक में बहुत से मुद्रण-दोष भी रह गये हैं। इस लिये प्रार्थना है कि सुबुद्ध पाठक उक्त आपत्ति-यों को देख हमें क्षमा करेंगे। आशा है कि ईश्वरकृपासे पाठकों की सादर सेवा में दूसरी आवृत्ति निकलाने का सुअवसर यदि प्राप्त होगा तो उस समय शुद्ध आवृत्ति प्रदान कर सकेंगे।

उपरिदर्शित असमाधान में हमें केवल यही एक समाधान है कि श्री. जामदारजी के इस लोकसेवा में हमें भी थोडा भाग मिल जाने के कारण उनका और हमारा स्नेहसंबंध मानसहंस के जरिये ऐसा दृढ हो गया कि जबतक तुलसीदासजीका मानस संसार में रहेगा तबतक उसपर विहार करनेवाले हंस के साथ साथ वे और हम सदैव के लिये ही एकत्रित रहेंगे। श्री तुलसीदास महाराजजी से अब यही प्रार्थना है कि जामदारजी का रामायणीय व्यासंग दिनदिन बढता रहे, और उनकी साक्षर लोकसेवा मे हमें भी भाग मिलता रहे, तथा जामदारजीके पेन्शनर देशभ्राताओं को आपका अनुकरण करने की सुबुद्धि होती जावे। इत्यलम्।

श्री गोस्वामी तुलसीदासार्पणमस्तु।

आपका शुभेच्छु

के. ल. नाखरे

श्री

प्रस्तावना

काय म्या पामरें बोलावीं उत्तरें ।
परि त्या विश्वंभरें बोलविलें ॥

—श्रीतुकाराम

(अर्थः—मैं पामर बात करनेका क्या बल रख सकता हूं ? परंतु वह विश्वंभर ही मेरे से बुलवा रहा है ।)

\+ + + + + + +

विपत्ति या संपत्ति ?

तुलसीरामायण का मराठी अनुवाद करते समय ही हमारे मन में कल्पना उछली थी कि तुलसीरामायण पर चिकित्सात्मक विचार होना अवश्य है । उस कल्पना को इस मूर्तस्वरूप में आने को अधिक कालावधि लगा यह जितना सच है उतना ही सच यह भी है कि उसके कारण वैसे ही विविध और शोकपर्यवसायी होते गये । उन सब कारणों का व्याख्यान करना यहां न इष्ट है न शक्य है । तो भी असल तुक्के की बात यही है कि जिसकी सहायताकी हमें अधिकतासे आशा थी वह हमारा समान-धर्मा जोडीदार ज्येष्ठ पुत्र कालचक्र की गति में नामशेष हो जानेसे हमारे ईप्सित कार्यका पूरा पूरा भार हमारे एकेले ही के सिर पर आ पड़ा । कहावत है कि संपत्ति का बीज विपत्ति में होता है, वही नितांत सत्य है । कारण, पुत्र-वियोगके परिणाम में ही हमें स्वयं को सेवाधर्मसे मुक्त कर लेना पड़ा; और उसके परिणाम में अपने ऐच्छिक प्रयत्न का उपक्रम करने को अवसर मिला ।

परंतु ईश्वरी संकेत अतर्क्य होते हैं। जीवमात्र के जीवन में विपत्काल न्यूनाधिक प्रमाण से रहते हैं, और उनकी स्मृति कालका प्रवाह उसी प्रमाणसे मिटाता जाता है। वास्तविकमें परम दयालु परमेश्वरने यह निसर्ग कितना तो भी औपचारिक कर रखा है। उसीके कारण श्रीसद्गुरु महाराज हमारे इस हंसरूप कल्पनावृक्ष को, उसपर बारंबार होनेवाले आघातों को हटाकर, यहां तक संवर्धित कर सके कि आज उसके फल आनंदसे चखने के लिये आम लोगों को मुक्तद्वार मिल सका। परंतु इतना महत्कार्य होनेपरभी यही मीठा निसर्ग हमें कटु जान पडता है। इसका कारण विधाताने हमारे ललाट-पटल पर 'दृढ-प्रेमा भ्रमः——स्मृतिसमुपगतोऽपि व्यथयति' यही लिख रखा है। हमारी आसमंत में सदा ही सोल्लास संचार करनेवाले, हमारे सुखदुःख में सदा ही राजीसे साक्षी होनेवाले, और तुलसीरामायण के हमारे प्रेम में क्षेम मनानेवाले प्रिय पुत्र (के. श्रीमंत शंकरराव उर्फ बापूसाहेब जामदार) और उनकी सौतेली माँ (के. श्रीमती सौभाग्य-शालिनी सत्यभामाबाई) श्रीगुरुमहाराज के इस 'हंस' को देख प्रेम की उमडंग में उसका कौतुक करके रीझने को कुछ थोडे पलत के लिये भी जी न सके। अस्तु।

तुलसीरामायण पर ही प्यार क्यों ?

भागवतादि संस्कृत तथा ज्ञानेश्वरी आदि प्राकृत (मराठी) ग्रंथों को बगल दिखला कर हमें एक तुलसीरामायण की ही इतनी चाहना क्यों हो, ऐसी कल्पना होना संभव है। परंतु इस बात का स्पष्टीकरण हम ही ने करना आवश्यक नहीं। हमारा पूर्णतया विश्वास है कि यह छोटासा 'हंस' ही इस प्रश्नके विषय में पटुतया समाधान करेगा। तो भी एक निजी कर्तव्य जानकर प्रस्तुतमें इतनाही कहना काफी होगा कि तुलसीरामायण म.के विचार सभी दृष्टि से भारतीय आर्वाचीन सारस्वत को ललामभूत होते हुए प्रचलित समय में पूर्णतया समाश्रयणीय हैं। श्री समर्थ रामदास महाराजजी की

'दासबोध' के पहिले लोकशिक्षा का पक्ष ऐसी उच्चतासे उठानेवाला तुलसीरामायण के अतिरिक्त अन्य कोई भी ग्रंथ निर्माण हुआ ही न था, ऐसा अब कोई भी निश्चयसे कह सकेगा।

ऊपरवाली बात की ज्ञप्ति महाराष्ट्र को आज तक न थी इस का कुछ भी आश्चर्य नहीं। प्रत्यक्ष उत्तरी प्रदेश में (अर्थात् तुलसीरामायण की जन्मभूमि में) भी उस बातकी ज्ञप्ति के बाबद हमें शंका है। कारण, हिंदी सारस्वत में उस बातका कहनेलायक खोज अभीभी हमें न मिला। तुलसीरामायण पर अनुपम भक्तिकाव्यकी एक ही दृष्टि जो सदा से चली आ रही है वही अबतक वैसी ही चली जा रही है। परंतु वह दृष्टि केवल ही एकतर्फी है। हमारे मतसे वह ग्रंथ सभी दृष्टिओं से विचार होनेको पात्र है, और यही बात सिद्ध करनेका इस पुस्तक का (मानस-हंसका) उद्दिष्ट है। परंतु इस उद्दिष्ट की सफलता तभी हो सके जब कि पाठकगण गतानुगतिकताकी कक्षा से, तथा टीकाकारोंके पक्ष से मुक्त हो, और पूर्णतया स्वतंत्र विचार की शिक्षा में जा पडें।

रामायणीय इतिहास की ललामता।

ऊपर जो कुछ कहा गया वह केवल तुलसीरामायण ही के संबंध में हुआ। परंतु मुख्य प्रश्न है रामचरित्रकी योग्यता का। रामचरित्रही यदि सच्ची योग्यता का न होता तो तुलसीरामायण किस गिन्ती में जा बैठता? बहुत ही होता तो वह एक अप्रतिम उपदेशपर उपन्यास की मालिका में गिना जाता, बस इतनाही। इस लिये रामचरित्रके महत्व का ही विचार मुख्य है।

निरपवाद मत है कि संसार में पहिली रामायण श्रीवाल्मीकिजी की हुई। उस रामायण का उपक्रम - **संसार में सर्वश्रेष्ठ आचारवान् (चारित्र्यवान्) कौन इस प्रश्न में** हुआ। इस स्पष्ट है से किसंसार में मनुष्य की जीवनचर्या किस प्रकार होनी चाहिये यह सिखलाने के गरज से वाल्मीकिरामायण प्रथम

निर्माण हुई। इसी कारण 'रामवद्वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्' यह लोक-संग्राहक आचारका सिद्धांत तब जन निश्चित कर सके। तात्पर्य, संसार में **कैसा वर्तना** यही रामायण की शिक्षा है। श्रीमद्भागवत की उत्पत्ति '**पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा**' इस परिक्षितप्रश्न में हुई। अर्थात् मनुष्यने **कैसा मरना** यह सिखलाने का काम भागवत का है। परंतु निसर्गने जीवन और मरण के जोड जीवन-प्रयास से जोडे हैं। इन जोडों को ही कोई जीवन-कलह (Struggle for existence), कोई जीवन-संग्राम (Battle of life वा Life a battle) इ. कहते हैं। '**जीवो जीवस्य जीवनम्**' भी लगभग वैसाही प्रकार है। यह जीवन प्रयास संसारमें सभी जीवोंको अपरिहार्य। परंतु यह प्रयास-जिस प्रधान तत्व पर होना चाहिये उस तत्व की कठिनाई यहांतक है कि "**कवयोऽप्यत्र मोहिताः**"। इस तत्व के निर्णय में महान् महान् '**विभूति**' भी '**धर्मसंमूढचेताः**' बनी जाती है। उस तत्व की शिक्षा देनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता * है। इससे यही निश्चय हुआ कि मनुष्यमात्रको

---

* गीताजीका सच्चा तात्पर्य वा ध्येय इतने में ही है:—

'**अशोच्यान् मा शुचः। मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः**'।

यथार्थतया 'अशोच्यान्' पद से गीताजीका प्रारंभ है और '**माशुचः**' पद पर समाप्ति है। अर्थात् आदिम और अंतिम पद मिलाने में ही गीताजीका तात्पर्य है।

अब उक्त पंक्ति का सारांश यह है—हे अर्जुन! जिन्हें मर्त्य समझ के मारने से तुझे दुःख होता है वे वैसे न होने के कारण शोकार्ह नहीं। अतएव तुमने दुःखी न होना चाहिये। यदा कदाचित् वे मर्त्य भी हों तौ भी उन्हें मैंने ही मारे हुए जानकर तुम मारो। उनका हंता मैं (श्रीकृष्ण) ही हूं यह निश्चय से जानो। फिर तुमको पश्चात्ताप का प्रयोजन ही नहीं। (पृ. ५ परकी फुट नोटम देखिये)

वर्तना, जीना और मरना इनके तत्व सिखानेवाले ग्रंथ अनुक्रमसे रामायण, गीता और भागवत हैं। इसी कारण इस ग्रंथत्रयको हम प्रस्थानत्रयी + समझतेहैं। परंतु मुख्य वर्ताव (सदाचार) ही जीना (जीवन-प्रयास) और मरना (पूर्ण निरहंकृति) इनका जीवन है। हल की क्रिया हुए विना जमीन में बीज बोया नहीं जाता, इस दृष्टिसे देखा जाय तो सबसे अधिक महत्व रामायण ही को पहुंचता है। अतः इस में संदेह नहीं कि लोकसंग्रह के लिये रामचरित्र का अध्ययन योग्य रीति से योग्य गुरु के सन्निध होना चाहिये। रामचरित्र की महती हमारे मतसे सच्चा सच्ची यही है।

इन विचारोंसे हमारी कल्पना होती है कि बहुशः इसी दृष्टि से तुलसीदासजीने अपने काव्य के लिये विषय का चुनाव १ रामचरित्र का

तात्पर्य, इतनी स्थित जिनकी प्रज्ञा हो उन्होंने कुछ भी किया तो भी वह उन्हें पच सकेगा, यानी वे कुछ भी करके निष्पाप रह सकेंगे। यही अन्य रीतिसे कहा जाय तो ऐसाही कहना होगा कि गर्भ को कहांतक जिलाना और उसे कब काटके फेंकना यह जाननेवाले तज्ञ और कुशल डाक्टर की भूमिका श्रीकृष्णचंद्रजी ने अपने गीताशास्त्र में अर्जुनजीके लिये उद्‍बोधित की है।

+आचार्योंने उपनिषद्, वेदांतसूत्र और भगवद्गीता इस ग्रंथत्रयीको प्रस्थानत्रयी निश्चित की है। केवल तत्वजिज्ञासु यानी उच्च कोटिके वर्गके लिये ही यह प्रस्थानत्रयी उपयुक्त होगी। सर्वसाधारण जनताके लिये वह अनुपयोगी है। उसके लिये हमने दी हुई प्रस्थानत्रयी ही उपयुक्त हो सकेगी।

१ यदि यह बात स्वीकृत हो तो देखा जावे कि तुलसीरामायण के '**रामचरितमानस**' नामका हमने जो 'The heart of the history of Rama' अर्थ किया (पृ० २४५ देखिये) उसपर कैसा स्वच्छ प्रकाश पड़ता है।

किया होगा। यदि वैसा न होता तो एक तो वे अपनी शंकरोपासना का प्रचार करते, अथवा उन्हें जीव या प्राण जैसी भागवत भक्ति का वे फैलाव करते, जैसा कि उनके समकालीन सूरदासजीने किया रहा २।

तुलसीरामायणकी अद्भुतता।

अब हम यहां तुलसीरामायण के पाठकोंका ध्यान उन दो बातों की ओर आकर्षित करते हैं जो कि आगामीही उनके ध्यान में रहना अत्यवश्य है:—

(१) तुलसीदासजीने अपनी रामायणमें विशेषतासे क्या किया ?

(२) तुलसीदासजीने अपनी रामायण द्वारा विशेषतासे क्या किया ?

पहिली बात समझने के लिये अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणों की ओर जरा ध्यान दिया जावे। इन दोनोंमें भी भरतजी का पात्र परम प्रेमी, प्रांजल और उज्वल ठहराया है तो सही, परंतु ऐसे गुणोत्कर्षके अनुरूप प्रमाणसे उस पात्रका वर्णन एकमें भी ब्योरेवार नहीं मिलता। इसीका परिणाम है कि रामजीको वनवास से लौटाने के लिये प्रायोपवेश भी करने को उद्यत होनेवाले रामरक्त और रामभक्त भरतजी के संबंध में चाहिये जैसा परिचय होकर चित्तको समाधान नहीं हो सकता। इस त्रुटिपर तुलसीदासजी का ध्यान पहुंचा, और उन्होंने भरतजीका वर्णन उनके प्रेम के अनुरूप देकर उस त्रुटिको

---

२. यह कहना व्यर्थ है कि रामभक्ति के बदले में यदि कृष्णभक्ति का प्रचार तुलसीदासजी करते तो उन्हें सूरदासजी के कार्य का भी फायदा मिल जाता, और उनका कार्य अधिकतासे सुफलित होता। श्रीसमर्थ और श्री तुकारामजी की उपासना और कार्य लक्षपूर्वक देखे जाय, तो तुरन्त ही प्रतीत होगा कि देशकार्योचित संतोंकी उपासनाएं परस्पर प्रतिरोधी न होकर अनुरोधी ही होती हैं।

साफ निकाल दिया। बल्कि इसी के कारण उनका का रामायण कहलाया जा सकता है। लोकशिक्षा की दृष्टिसे देखनेवाला अब देख सकता है कि तुलसीरामायण अधिकता से संग्रहणीय और उपयुक्त क्यों हुआ। तुलसीदासजीने अपनी रामायण में प्रमुखतासे जो कुछ किया सो यह है।

परंतु यहीं स्थगित होना स्थूल दृष्टि है। सूक्ष्म दृष्टि का विचार यह है कि किस मूलतत्व पर तुलसीदासजी भरतचरित का, उन्होंने किया जैसा, आविष्कार कर सके। इस बात का शक्य उतना विचार इस पुस्तक के सभी भागों में किया हुआ दिखने में आवेगा ही। तो भी यहां उसका जरासा दिग्दर्शन कर देते हैं। वह मूल तत्व '**सुकृतज्ञमुत्तमम्**' (भाग.५-१९-८) है। इस सूत्रमें श्रीशुकदेवजीने ध्वनित किया है कि रामजी को अखिलाङ्ग सुंदरता उनकी **सुकृतज्ञता** के कारण प्राप्त हुई। वही ध्वनि लेकर तुलसीदासजीने उसका विपुलीकरण अपनी रामायण में किया। अतएव हमें विश्वास होता है कि शुकाचार्यजी के ध्वनि का तुलसी-रामायण प्रतिध्वनि है, और उस प्रतिध्वनि को अत्यंत गंभीर और उदात्त करने का साधन भरतजीका पात्र है।

अब देखेंगे कि गोसांईजीने अपनी **रामायण द्वारा** क्या किया। सभी से हम सहमत है कि स्वामीजीने अपनी रामायण द्वारा लोक संग्रहके लिये ईशप्रेमका जीता झरना देशके हवाले किया। इतना उपकार करते हुए उन्होंने लोकशिक्षाके लिये वास्तविकमें अपने धर्मतत्वोंकाभी खुले दिलसे निदर्शन कर देना था। परंतु उस विषयमें, वे अटल मुग्ध बने रहें। प्रश्न है कि यह मुग्धता अहेतुक थी या सहेतुक? हमें वह सहेतुक जान पडती है। इसका कारण हमें यही प्रतीत होता है कि उनकी आमदानीमें भिन्न भिन्न धर्म और पंथ जोरोंसे फूत्कार कर आपसमें टक्करें लगा रहे थे। ऐसी स्थितिमें यदि स्वयंके धर्मविचार उन्होंने प्रगट किये होते तो किसी ना किसी धर्म अथवा पंथके वे पोषक बन जाते, या सभीसे विरोधी होते। और ऐसा होनेसे कोईभी एक धर्म वा पंथको सिर

उठानेको अधिकतया अवसर मिल जाता, या सभासे फूटके उनकाही एक अलग पंथ निकला रहता। परिणाम की दृष्टिसे, जो कुछ भी होता वह विघातकही होता, क्यों कि विरोधमेंही अधिकतासे बढोतरी होती। स्वयं तुलसीदासजी इस बातके विरोधी थे। अतएव केवल एक वैदिक धर्मपर ही अपना सारा भार डाल कर—परंतु उसमें भी दीर्घसूत्रता न दिखला कर—केवल भागवतीय निष्काम भक्तितत्वके पक्षका ही वे अपनी रामायणमें समर्थन करते रहे। इस प्रकार उन्होंने स्वयं को हठी धर्मकट्टरोंके झंझटोंसे अलिप्त रखा। सारांश, अपनी रामायणद्वारा प्रमुखतासे उन्होंने यही किया कि सांप्रदायिक पक्षोंके नाखुष न करके स्वयं को निपक्ष रखा, और लोगोंकोभी उन पक्षोंकी कक्षासे बचाया। इस नीति–निपुणतासे उन्होंने अपने लोकसंग्रह-कार्यका एक बडाही पेंच सुलझाया। अब यदि मान भी लें कि यह लोक-सेवा अप्रत्यक्ष प्रकारकी ही हुई, तोभी विचार करने पर यह कहना होगा कि वह जो कुछ हुई उसकीभी योग्यता कुछ कमी नहीं लेखी जा सकती।

परंतु उनकी प्रत्यक्ष लोकसेवा भी ऐसी घनी हुई है कि वह भारतवर्षका एक चिरंतन मंतव्य ही हो बैठी। वह सेवा इस 'हंस' में के 'लोकशिक्षा–भाग' में कोई भी देख सकेगा। उस में की उनकी समाजशिक्षा (पृ० २२८-२३२) तो उनकी लोकशिक्षा का केवल शिरोरत्न है। उस में समाज शास्त्र के उनके सूक्ष्म प्रमेय दिखाई देते हैं जोकि निःसंदेह सुतराम् अनूठे हैं। सरांशमें उन में की शिक्षा यह है कि भारतवर्ष का अंतिम साध्य एक **स्वधर्म** ही है, और उस साध्य का साधनचतुष्टय **सुदेश** (स्वदेश), **सुराज** (स्वराज्य) **सुवसता** (स्वातंत्र्य) और **राजवर्जन** (बहिष्कार या असहकारिता) है। भारतीय अर्वाचीन सारस्वतको समाजशास्त्र की इस चतुःसूत्री से जो निःसंदेह अनमोल अधिकता पहुंची, उसका सब श्रेय तुलसीरामायण के ही अंजुलिगत होना बाध्य है।

अब यहां कहना ही लाजमी है कि गोसांईजी हिंदुस्थान ही के होकर उनका न्याय्य श्रेय उन्हें पहुंचाने में हिंदुस्थानने अत्यंत खेदजनक विलंब किया। क्या यह अनुकम्पनीय दुर्भाग्य नहीं कि श्री तुलसीदासजी और समर्थ रामदास स्वामी महाराजजीके कोटि में के हैं इतनी अल्पसी बात समझने के लिये उनका रामायणके लाखों लोगों द्वारा करोडों पारायण होते हुए भी अबतककी साढ़े तीन शतकों की अवधि पूरी न पड़ सकी?

हंसका जन्मवृत्त।

रामचरित्रमानस के संबंधमें प्रस्तुत इतना ही कथन अलम् समझ कर अब 'हंस' की ओर देखेंगे। इस 'हंस' का जन्मकथा जरा चमत्कारिक होने के कारण वह निवेदित करते हैं। जबलपूर मुकाम पर सं. १९५९ में श्रीसद्गुरु राघोबा वावीसकार महाराजजी के सन्मुख तुलसीरामायण पर प्रवचन करने की हमें उनकी आज्ञा हुई। आज्ञानुसार भरतचरित्रका भाग चुना गया। बख्त घडी की बात, प्रवचनसे उभय पक्ष आनंद में लुट गये। थोडी देर बाद महाराजजीने आंखे खोली और सायंसंध्या के लिये वे पधारने लगे। चलते समय उनके मुँहसे निकला कि 'अब यह रामायण पास ही रख कर, चोली न छूटे'। इतना शब्द निकलते ही आनंद में हम उनके चरणों में गिर पडे, और कहा की 'इस पामर को यह आज्ञा दुष्कर जान पडती है'। उत्तर में 'सत्यं संकल्पका दाता भगवान्' केवल इतनाही कह कर महाराजजी चलते हुए। पश्चात् उनकी आज्ञा से पार होनेके लिये अनेक उपक्रम करने में आये, परंतु वे सब निष्फल ही होते गये। अर्थात् निराशा अधिक बढते गई। अंततः में हमारे 'चिरंजीव' के साधारण तैयारी थी ही, करके उनको जोडी मे लेकर हम फिरसे प्रयत्न को लगे। इस यत्न का जिस प्रकार वेरंग हुआ वह प्रारंभमेंही निवेदित हो चुका

है। उस दशामें तो हमारी निराशाका विलकुल छोर ही हुवा। कहने की प्रथा है कि निराशा में भी आशा अंकुरित होती है। हमें तो वही सत्य हुआ। अन्यत्र आजका सुदिन हमपर और ही न होता, और 'सत्य संकल्पाचा दाता भगवान्' इस गुरु-वाक्य का हमें प्रत्यय भी न आता। सारांश, गुरुनाथजीका यह 'हंस'-स्वरूप संकल्प उन्होंने ही इस घटनासे मूर्तस्वरूपमें लाया, और तुलसीदासजी और भारतवर्ष की सेवाका श्रेय हमारे पल्लेमें बांधा।

हंसका नाम, रूप और आकार।

इस ग्रंथका मुख्य नाम '**मानस-हंस**' है, और उसका पर्याय '**तुलसीरामायणरहस्य**' है। तुलसीदासजीने अपनी रामायणका '**रामचरितमानस**' नाम धरा है। इस में के '**मानस**' शब्द के अनुरोधसे हमारी ओरसे इस पुस्तक का नाम '**मानस-हंस**' धरने में आया है। इसकी अपेक्षा इस नामकी योजनामें हमारा अन्य कोई भी आशय नहीं।

पुस्तकमें कुल मिलाकर छः प्रकरण है:—(१) **कविपरिचय**, (२) **काव्यसमालोचना**, (३) **लोकशिक्षा**, (४) **पात्रपरिचय**, (५) **उपसंहार**, और (६) **पंचवाद** अथवा **परिशिष्ट**। **कविपरिचय** में कवि की अधिकारनिविष्टता, काव्यका काल तथा उद्देश, और काव्यरचनाकी साधनसामग्रीका सूक्ष्म किंतु संक्षिप्त विचार किया गया है - (२) **काव्यसमालोचना** हर एक कांडकी पृथक्तया हुई है, परंतु विस्तारभय के कारण चर्चा उन्हीं प्रसंगों की करने में आई जो कि विशेषता से महत्व के समझे जाते हैं। यह चर्चा बव्हंशोंसे कविकी विद्वत्ता, काव्यनैपुण्य और शिक्षाचातुर्य की दृष्टिसे हुई है। सारांश, काव्यका बहिरंग और अंतरंग का साधारणतया सूक्ष्म निरीक्षण इस भाग में दिखाई देवेगा। (३) **लोकशिक्षा** भाग में हमारा स्वतंत्रसा विचार कुछ भी नहीं। काव्य में इतस्ततः बिखरे हुए कवि के विचारों का संकलन कर उन्हें व्यवस्थित रूपमें लाने के अतिरिक्त इस भाग में

हमने कुछ भी नहीं किया। शेष भाग हमारे स्वतंत्र विचार के कार्य हैं। उनमें से पहिला पात्र-परिचय है जो ऊपर की संख्यानुक्रम से (४) था भाग गिना जाता है। कविके निजी मत प्रदर्शित करने के हेतु काव्य में पात्रों की योजना किस प्रमुख तत्वपर की, यह दिखानेवाला यह भाग है। इसी कारण इस भाग में हमें अध्यात्म, तथा वाल्मीकि रामायणों के प्रमुख पात्रों की तुलना तुलसीरामायण में के तत्तत् सांबंधिक पात्रों से करनी पड़ी। (५) उपसंहार उपान्तिक भाग है। उसमें कवि और काव्य संबंधि सर्वसाधारण महत्व की तथा उपयुक्तता की बातोंका थोडाथोडा स्वतंत्र विचार हुआ है। (६) आंतिक भाग पंचवाद है। काव्यांतर्गत जिन महत्वकी बातोंका विशेषता से खुलासा होना हमें अवश्य दिखा उन वादग्रस्त बातों के लिये ही यह भाग जोडना पडा। अर्थात् यह भाग प्रपूरकसा होने के कारण पर्यायसे परिशिष्ट कहलाता है।

प्रस्तुत में गोसाईंजीके 'मानस' के प्रमाण से यह 'हंस' बेचारा बिलकुल ही टेनीसा दिखाता है, इस में संदेह नहीं। परंतु जहां मूलमें ही अभाव वहां सूक्ष्म आविर्भाव भी साधारणतः समाधानकारक समझा जाता है। सिवाय, संसारमें आकर जिसने पहिला भी सांस अबतक पूरा नहीं लिया ऐसा अर्भक यदि दुर्बल और क्षीण दिखे, तौभी वही बचने जीने पर बलिष्ट हो सकेगा ऐसी आशा संभवतः ही रहती है। हम भी आशावादी हैं, और इसी लिये 'उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा' पर विश्वास रखनेवाले हैं। अतएव हमें आशा है कि अब यहां से तुलसीदासजी और उनकी रामायण के संबंध में उन्हीं के पुण्यप्रताप से शीघ्रही विचारक्रांति दिखाई देवेगी। हाल में हमें केवल इस कल्पनामें ही बड़ा भारी संतोष है।

निराशा विरुद्ध आशा!

हमारी तो उत्कट इच्छा है कि सभी प्रचलित रामायणोंकी साकल्य समालोचना तुलनात्मक दृष्टिसे हो। परंतु आयु, बल और

परिस्थिति इन तीनोंसे भी अपनी मर्जीसे हमें उदार होनेके कारण अब थोड़ेमेंदो जान पड़ती है। तो भी हम जन्मांतरवादी होनेके कारण आशा रख सकते हैं कि जिसे हम "समानधर्मा" समझते थे वही (यानी हमारा पति पुत्र) उस कार्यके लिये अपने संस्कारों के अनुसार फिर भी "उत्पत्स्यते"। क्यों कि संस्कार अटल होते हैं यह कालत्रयाबाधित सिद्धांत अन्यथा हो नहीं सकता।

साभार अभिनंदन।

यह कहने में हमें बड़ाही आनंद होता है कि तिरोडा—(तह. गोंदा, जि. भंडारा, सी. पी.)—निवासी ज्योतिरलंकार, मान्यवर दीक्षित श्री रामरतनजी से तुलसीरामायणकी पुस्तक १९०५ ई. में हमें प्रसादसी मिली। इसी सालमें चातुर्मास्य की कथाद्वारा उन्होंने हमें 'मानस' का शब्दबोध अच्छी तरह कर दिया। अर्थात् वे तुलसीरामायणके हमारे विद्यादाता हैं। हमें विश्वास है कि तुलसीरामायण का हमारा मराठी भाषांतर और यह मानसहंस, उन्हींके प्रसन्नताके फल हैं। उनके ये उपकार हमसे कदापि भी अदा न हो सकेंगे।

अखार

अब निरवधि इस मातृभूमि के लिये गोसाईं तुलसीदासजी भर जिंदगी आंसू बहाते रहे। उसीके निमित्त कष्ट और क्लेश सहकर परिश्रम करनेमें उन्होंने अपनी सारी आयु टेर कर दी। उसीके सुख और समाधान के कारण अपनी सारी तपस्या उन्होंने अर्पण कर दी। सारांश, इस मातृभूमि के स्वार्थों के हेतु उन्होंने मनोवाक्काय कर्मभिः सेवा की। ऐसे लोकमान्य और असामान्य देशसेवक महा-

पुरुष के संबंधमें हम सब आजतक गाढ अंधरेमें ही टटोलते रहे। यह आश्चर्य वा दुर्दैव, अथवा और कुछ, इसकी चिकित्सा करते वैठने में वहुत गमानेको अव अवसर नहीं। अब तौ भी अक्षम्य कृतघ्नता के बावद दृढ पश्चात्ताप हो। अव तौ भी उस महात्माका ऋण्हत्व ससूद 'शुभस्य शीघ्रं' अदा करनेकी आकांक्षा हो। अब तौ भी पूर्ण कृतज्ञता व्यक्त की जावे। विश्वास रह कि 'हंस' के इस गीतसे आपका लक्ष यदि आकर्षित होंवे तो दोनोंकी दो आकांक्षा सुफलित होती हुई सब संसार के नजर में आवेगी। पहिली आकांक्षा सर ग्रीअरसन साहब के नीचे के अभिमतमें की है:—' Tulsidas, a genius, whose name will some day be inserted by universal consent in the list of the great poets of the world'.

(सारांश—महात्मा तुलसीदास के नामसे संसार के कवि शिरोमणि मंडळ का पट विभूषित करनेवाला एक दिन भोर होना ही चाहिये।)

दुसरी आकांक्षा स्वयं तुलसीदासजी की ही है जो कि उन्होंने इस प्रकार दर्शित की:—

'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिवंधमतिमंजुलमातनोति'।

उपर्युक्त आकांक्षा की सुफलिततासे ही हंस' स्वयं को जीता और कृतकार्य मानेगा, और उसके आनंद का उमङ्ग आकाशमें भी न समावेगा। इति शम्।

नागपूर
संवत १९८३ रामनवमी
(ता० २२-३-२६)

यादव शंकर जामदार
ग्रंथकर्ता

विषय सूची.

संदर्भ-ग्रंथ-सूची।

ग्रंथोंके नाम।	संक्षेप चिन्ह।
एकनाथी भागवत	एक. भाग.
श्रीमद्भागवत	भाग.
अध्यात्मरामायण	अ. रा.
वाल्मिकि रामायण	वा. रा.
भगवद्गीता	गी.
प्रसन्न राघव नाटक	प्र. रा. ना.
हनुमन्नाटक	ह. ना.
तुलसीरामायण	तु. रा.

यह रामायण बम्बई गुजराती प्रेसवाली पं. रघुवंशशर्माकी चतुर्थावृत्ति (गुटका) है। केवल एक कम दामवाली होनेके कारण ही वह पसंद की गई।

|| श्री ||

मानसहंस

अथवा

तुलसीरामायणरहस्य

कवि-परिचय.

(१) श्रीतुलसीदासजी कौन थे ?

" कलि कुटिल जीव निस्तार हेत वाल्मीक तुलसी भयो । "

(तुलसीदास के समकालीन कवि नाभाजी)

" श्रीवाल्मीकचि जाला श्रीतुलसीदास राम यश गाया ।
तरिच प्रेमरसाची खाणी वाणी तशीच वश गा या ॥ "

(महाराष्ट्र कवि मोरोपंत)

(अर्थ—श्रीरामचंद्रजीका यश गाने के लिये ही श्रीवाल्मीकि तुलसीदास हुए; तभी तो ऐसी प्रेमरससे भरी हुई वाणी की खान उनके वश हुई ।)

यथार्थमें श्रीतुलसीदासजी कौन थे, यह प्रश्न जितना पुराना है उतना ही उसका उत्तर भी पुराना है । बात इतनी ही है, कि प्रश्न को सुलझाने की रीति में आजकल बहुत भेद हो गया है । इससे कोई यह न समझे कि हम आज कोई नई बात बतलाने वाले हैं, किंतु यह युग आलोचनात्मक दृष्टि का है इसीलिये इसी दृष्टिका अवलंबन करके, इस नई पद्धति की कसौटी पर पुराना मत कहाँ तक सच निकल सकता है, यह देखनेका हमारा यह स्वल्प प्रयत्न है ।

(पृ. २७)

दो०—होहुँ कहावत सब कहत, राम सहत उपहास ।
साहिब सीतानाथ से, सेवक तुलसीदास ॥

चौ०—अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी । सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी
समुझि सहम मोहिं अपडर अपने । सो सुधि राम कीन्ह नाहिं सपने
सुनि अवलोकि सुचित चख चाही । भगति मोर मति स्वामि सराही
कहत नसाइ होय हिय नीकी । रीझत राम जानि जन जी की

सिद्ध करने की बात पहिले देकर, तुरंत ही उसके दृष्टांत देनेकी जो गोसाँईजी की शैली है, वही ऊपर के अवतरण में भी दिखलाई पड़ती है । "होहुं कहावत सब कहत, राम सहत उपहास" इस मुख्य प्रमेय को लेकर उसे सिद्ध करने के लिये गोसाँईजी ने स्वयं अपना ही उदाहरण लिया है; पर ऐसा किसी ने नहीं सुना है कि, उन्होंने जिस तरह लिखा, उस तरह के वे [illegible] थे । आज उनके विषय में, जो कुछ भला बुरा हमको [illegible] पड़ता है वह इतना ही है कि युवा अवस्था में और वह कुछ स्वल्प काल तक ही, वे अपनी स्त्री पर

अत्यंत आसक्त थे। तो फिर प्रश्न यह है कि उन्होंने अपने विषय में ऐसी निकृष्ट प्रणाली के उद्गार क्यों निकाले ? बहुमतसे यह उनका विनय समझा जाता है, परंतु हमको यह ठीक नहीं जँचता—" अति बड़ि मोरि.........ढिठोरी " यहां तक विनय कहा जा सकेगा; परंतु " समुझि सहम मोहिं अपडर अपने " इससे तो साफ-साफ यही प्रतीत होता है कि उनको पश्चात्ताप होने के कारण उनके मन पर जो आघात हुए, वही उन्होंने अपनी वाणी द्वारा प्रगट किये। फिर यथार्थ में यह किस तरह विनय कहा जा सकेगा ?

यदि यह कहा जाय कि यह सब वर्णन काल्पनिक है तो वह भी ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि यदि यह वर्णन काल्पनिक मान लिया जाय, तो सारा राम-गुण-वर्णन भी काल्पनिक ही ठहरेगा, और फिर रामायण एक उपन्यास हो जायगी। इन सब कारणों से यह विनयात्मक भी नहीं कहा जा सकता और न कल्पनात्मक भी माना जा सकता। तो फिर यथार्थ में यह क्या कहला सकता है ? इस प्रश्न का विचार हम अब करेंगे।

पहिली तीन चौपाइयों में जो वर्णन है वह हमारी समझ में साङ्केतिक वर्णन है, क्योंकि इन चौपाइयों का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध अनुक्रमश: वाल्मीकिजीके जीवन-चरित्र से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

किसी भी साङ्केतिक वस्तु का निश्चय करने के लिये एकाध निर्विवाद तथा विशिष्ट बात की आवश्यकता बहुधा होती ही

है, और ऐसी विशिष्ट बात का उल्लेख वाल्मीकिजीके जीवन-चरित्र से गोसांईजी ने " उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भ ब्रम्ह समाना " इस चौपाई में किया है। यहां 'उलटा नाम' ('राम' इस नामका उलटा) इस का अर्थ 'मरा' यह स्पष्ट ही है। अब यदि चौथी चौपाई की ओर हम ध्यान दें तो यही मालूम होगा कि 'कहत नसाई' (नाश का उच्चार, अर्थात् 'मरा शब्द') यह शब्द स्पष्ट रूप से 'मरा' वाचक है। यहां पर सांकेतिक वस्तु का निर्णय निश्चय-पूर्वक हो चुका।

आनंद की बात है कि आर्वाचीन पद्धति से विचार करने पर भी पुराना ही मत ठीक उतरा।

वाल्मीकि ही तुलसीदास हुए—ऐसा कहने के लिये और भी एक विशेष कारण है। भागवत में श्रीव्यास-नारद संवाद है (स्कं १ अ. ४ से ६)। इसमें श्रीव्यासजी का प्रश्न है, कि इतना भारी महाभारत लिखने पर भी उनके चित्तको समाधान क्यों नहीं हुआ? इस पर श्रीनारदजी ने जो उत्तर दिया वह यह है:—

" भवतानुदित-प्राय यशो भगतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥
यथा धर्मादयश्चार्थो मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥

अर्थात् व्यवहार-प्रचुर श्रीकृष्ण-चरित्र-वर्णन से चित्तकी शांति नहीं हो सकती; यह तो केवल भक्ति-प्रचुर श्रीकृष्ण के गुण-वर्णन से ही मिल सकती है। इसलिये फिर श्रीव्यासजी ने

भक्तिप्रचुर भागवत लिखी और उससे उनके चित्तको शांति प्राप्त हुई। इसी तरह यहां पर श्रीवाल्मीकिजी ने 'रामायण' लिखी, परन्तु उसमें उन्होंने व्यवहार–प्रचुर राम-चरित्र ही वर्णन किया जिससे उनके चित्तको शांति प्राप्त न हो सकी, और इसीलिये फिर उन्होंने तुलसीदास का जन्म लेकर भक्ति-प्रचुर राम-गुण-वर्णन "राम-चरित-मानस" में किया और इस तरह अपने चित्त की शांति कर ली। यह बात ग्रंथारंभ के 'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ–गाथा–भाषा–निबंध मतिमंजुल मातनोति' इस उद्देशात्मक वाक्य के 'स्वांतः सुखाय' पदसे ध्वनित होती है।

यहां कहा जा सकता है, कि श्रीव्यासजी के संबंध में ऊपर कही हुई बातों को मान लेने में कोई भी हानि नहीं, क्योंकि उन्होंने एक ही देह से सब कार्य कर लिये, परंतु तुलसीदासजी का हाल तो वैसा नहीं था। इसपर हमारा उत्तर यह है कि सिद्ध स्थिति में देहात्मबुद्धि न रहने के कारण 'देह और देहान्तर' का प्रश्न ऐसे व्यक्तियों के लिये बिलकुल ही क्षुद्र है।

यहां पर कदाचित् ऐसी भी टीका उपस्थित हो कि इतनी विचिकित्सा करने का प्रयोजन ही क्या? इस प्रश्न के उत्तर में निश्चय से कहा जा सकता है कि हमारे इस कार्य का उद्देश बहुत ही पवित्र है। विचिकित्सा कर ग्रंथ का देह छिन्न विच्छिन्न हो ऐसी हमारी यत्किंचित् भी मनीषा नहीं। इतना ही क्या, किंतु ऐसी आलोचना हमें संमत भी नहीं!

गोसाईंजी की महती से जिसे अल्प भी परिचय हो उसे उक्त प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकता । वह हार्दिक कृतज्ञताबुद्धि से ही उक्त आलोचना की ओर बड़ी भाविकता से देखेगा । आवश्यकता अथवा उपयुक्तता का प्रश्न उसी को दृष्ट होगा जिसे स्वामीजी के महती का गाढ़ अज्ञान हो । समाज में इस प्रकार का अज्ञान विघातक है । अतएव इस अज्ञान-निवृत्ति के हेतु स्वामीजी के महती के विषय में यथाशक्ति खल करना अत्र हमारा आवश्यक कर्तव्य है ।

गोसाईंजी की महती

स्वामीजी की उपस्थिति के समय हिंदुस्थान में मोगल बादशाहत का अमल पूरा पूरा उदित था । अकबर के कुटिल-नीतियुक्त धर्मप्रचार के कारण आर्य-धर्म के उज्वल तत्व जीर्ण और जर्जर होकर यावनी विचारों का प्रचार सर्वत्र हो रहा था । शुद्ध और सात्विक आर्य-संस्कृति कलुषित और घृणित करने में अकबर की राजनीति उत्तमता से फलीभूत हुई । हिंदू लोगों पर कृत्रिम प्रेम की ललकझलक दिखा उन्हें अपने राज्य में उच्च पदों पर नियत कर, उन्हें ऊपरी ऊपरी विश्वास और ऋजुता दिखा उन्हीं के द्वारा सुप्रसिद्ध और सद्वंशीय हिंदू राजामहाराजाओं (क्षत्रियों) की कन्याएँ यावनी घरानों में विवाहित कराकर, तथा अन्य अनेक कपटपूर्ण युक्तिप्रयुक्तिओं से हिंदू लोगों का सत्व, स्वत्व और धर्मप्रभा भ्रष्ट करने का कार्य बादशाह अकबर ने ऐसे

अचानक और बेमालूम ढंग से किया जैसा कि अन्य कोई भी यवन बादशाह से न हो सका। परधर्मीय राजसत्ता जब दृढमूल हो जाती है तब जितों की धर्म कल्पनाओं को शिथिल करने में और उनकी आवश्यक नियमबद्धता नष्ट करने में जितों के धार्मिक कल्पना के संबंध में जेताओं की उदासीनता और सहिष्णुता जितनी कारणीभूत होती है उतने ही स्वधर्मातिरेकी और परधर्मच्छलक जेताओं की असहिष्णुता और अत्याचार जितों के धर्मशौर्यवीर्यादि गुणों को उद्दीपित करने में भी कारणीभूत होते हैं, यह एक ऐतिहासिक सिद्धांत है और वह अबाधित चला आ रहा है। धर्मपर अनन्वित प्रकार के प्रहार हुए विना उसके अंतर्गूढ विस्फुलिंग कदापि व्यक्त नहीं होते। धर्म पर जब विविध निर्घृण आघात होते हैं तभी उसका विकराल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। अकबर की कुटिल राजनीति के कारण आर्यधर्म का तेज स्फुट होने को अवसर ही न मिल सका, और इसी कारण आर्यों के धर्मविचार और धर्मबंधन छिन्न विच्छिन्न होकर उनका अविश्रम ऱ्हास ही होता चला। मानधन वीरवृत्ति राजपूत राजवंशियों पर भी जब अकबर के धूर्त कृत्यों के ऐसे अनिष्ट परिणाम अबाधित हो सके तो फिर उत्तर की सामान्य हिंदू जनता पर उसका पूर्णतया परिणाम हुआ इसमें आश्चर्य ही क्या ?

बाह्यतः अतीव शांत परंतु अंतस्थ परम प्रक्षुब्ध ऐसी स्थिति में धर्म-रक्षण का कार्य जितना विकट रहता है उतना और किसी भी परिस्थित में नहीं रहता। अकबर के उपर्युक्त राजनीति के कारण सारे उत्तर हिन्दुस्थान में फैली हुई धर्म-ग्लानि को नष्ट करनेवाले आर्य-

धर्म के उज्वल तत्व ग्रंथ द्वारा विशद कर उनका जनता में प्रसार करने वाले, और धर्म बंधन के शिथिल रज्जुओं को अट्टहासपूर्वक दृढ़ रखनेवाले जो सत्पुरुष उस समय सारे देश में विद्यमान थे उनमें गोसाईंजी ही अग्रमान से विराजित हैं ।

ऐसे असाधारण पुरुष ' त्वतः सनातनोधर्मो रक्ष्यते तनु-भिस्तव । ' इस भागवतोक्ति के अनुसार भगवदंशधारी ही होते हैं । इसी अनुसार भारतधर्म-संस्थापना का प्रचंड देशकार्य अबतक अबाधित होता आया । भारत की परंपरा ' यदा यदा हि धर्मस्य ' इ० गीता-वाक्य के अनुसार आजतक जैसी अप्रतिहत चली आई आगे भी निःसंशय वैसी ही चलती रहेगी ।

ऐसे धर्मधुरंधर महात्माओं के मुख से उन्हीं के पूर्व-जन्म के रहस्य का उद्घाटन होना, हमें विश्वास है कि, सभी को आवश्यक गौरव–योग्य होगा । फिर कलिकाल का कविसम्राट् आज अपने मुख से और आप खुशी से यदि पुकार कर कहता हो कि कृतयुग का आदि–कवि मैं ही हूं तो भला ऐसे समय उसका ठीक२ गौरव किस तरह किया जाय ? उसके उपकार मनाकर, या उसके उस प्रख्यापन के प्रयोजन के संबंध में साशंक होकर ?

अंत में विशेषता से कहने का यह है कि ग्रंथकार की अधिकार निविष्टता का ज्ञान उसके ग्रंथ के अध्ययन के लिये अत्यंत साधनी-भूत होता है । इस अन्वय से भी हमें विश्वास होता है कि हमारी इस चिकित्सा की विशाल आवश्यकता और उपयुक्तता पाठकों को ग्राह्य और मान्य हुये विना न रहेगी ।

(२) तुलसीकृत रामायण के रचना-काल में देश की स्थिति कैसी थी ?

इस प्रश्न का खुलासा गोसाईजी की ही लेखनी द्वारा इस प्रकार किया गया है—(रा. पृ. १२३)

" बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लंपट परधन परदारा
मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्हसन करवावहिं सेवा
जिनके यह आचरण भवानी । ते जानहु निशिचर सब प्रानी
अतिशय देखि धरम कै ग्लानी । परम सभीत धरा अकुलानी

यहां विचार करने की बात इतनी ही है, कि उपर्युक्त वर्णन को गोसाईंजी रावणके अत्याचार का परिणाम कहते हैं, वह सच माना जाय, या हमारे मतानुसार यह वर्णन रामायण-रचना-कालीन देश-स्थिति का ही है, यह सच माना जाय ।

अध्यात्म रामायण तथा वाल्मीकि-रामायण में इतना ही मिलता है कि रावण देवताओं और ब्राम्हणों पर बहुत अत्याचार करने लगा और तीनों लोकों को बहुत ही त्रास देने लगा। गोसाईंजी के मतानुसार रावण ने सारे जग में अधर्म और अनीति का भयंकर प्रसार किया । यह छोटा मोटा अन्तर नहीं है । यह न समझना चाहिये कि धार्मिक अथवा नैतिक आचारोंमें केवल व्यत्यय आनेसे ही अधर्म की या अनीति की बाढ़ होती है। तो फिर इन दो भिन्न मतों का निर्णय कैसे किया जाय ?

हमारे मत से अध्यात्म और वाल्मीकि के ही विचार उनके रामायणीय रावण के संबंध में ग्राह्य होंगे । रह गये गोसाईंजी, अतएव पहिले यह निश्चित करना चाहिये कि उनका रावण कौन है और फिर देखना चाहिये कि प्रश्न कहां तक बाकी रह जाता है।

परन्तु यहां एक बातका विस्मरण न होने देना चाहिये कि कवि और चित्रकार इनका कार्य बहुत कुछ एक समान ही होता है । मान लीजिये कि किसी चित्रकार को महालक्ष्मी का चित्र व्यवहार-दृष्टि से सुन्दर और भड़कीला बनाना है । यदि वह चतुर है तो क्या करेगा ? किसी छैल-छबीली और सुन्दर स्त्री का चित्र बनाकर वह उसपर महालक्ष्मी का समूचा पाहिराव चढ़ा देगा और इस तरह स्वाभाविक ही अपने समने का विशिष्ट दृश्य लेकर उसपर वर्ण्य विषय का पाहिराव चढ़ा देगा और ऐसा करके वह संसार में मान्यता को प्राप्त कर लेगा ।

गोसांईजी ने भी इसी युक्ति का अवलंबन किया है। उनकी रामायण की रचना का काल अकबर बादशाही का था । उस अमलदारी की जो भीतरी बातें थीं वे धूर्तता का नकली धर्म, फलस्वरूप में हिन्दु धर्म की ग्लानि, राजपूत स्त्री-पुरुषों की घोर विडंबना, जाति-व्यवस्था पर प्रहार, बाल-विवाह की रुकावट, विधवा-विवाह-प्रोत्साहन, यावनी-धर्म का प्रचार, फारसी भाषा और मुसलमानी प्रथाओं का मनमाना फैलाव, ' कंटकं कंटकेनैव ' की राजनीति इ० इ० हैं। मोगलों के अमलदारी का हेतु और उसके भावी परिणाम, गोसाईंजी के व्यापक निरीक्षण में शीघ्र ही आ

चुके। ये ही अत्याचार गोसाईजी के दैनिक दृश्य वन गये और इन्हीं दृश्यों पर उन्होंने रावण के अत्याचार की छाप लगा दी और दुसरे ही क्षण वड़े त्वेप से 'जिन्हके यह आचरण भवानी। ते जानहु निसिचर सव प्राणी' इस असंवद्ध चौपाई को वीच ही में घुसेड़ कर उन्होंने अपने रावण को ध्वनित कर दिया।

गोसाईजी का रावण कौन था इसके निश्चित होने में अव किसी वात की न्यूनता नहीं रही। इसलिये अव यह कहने में हमें कुछ भी शंका नहीं है कि हमने आरंभ में अपना जो मत लिखा है वही सच निकला।

उत्तरकांड में कलि-वर्णन के भाग में देशस्थिति का वहुतसा वर्णन किया गया है, परंतु विस्तार-भय के कारण उसमें से हम यहांपर कुछ चुने हुए थोड़े से अवतरण देते हैं:—

दो०—कलिमल ग्रसे धर्म सव, गुप्त भये सव ग्रंथ
दंभिन्ह निज मति कलपि करि, प्रगट किये वहु पंथ
भये लोग सव मोहवस, लोभ ग्रसे शुभ कर्म

चौ०—वरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोधरत सव नरनारी
द्विज श्रुतिवेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन

सो०—जे अपकारी चार, तिन्हकर गौरव मान्य वहु
मन क्रम वचन लवार, ते वकता कलि-काल महँ

दो०—भये वरनसंकर सकल, भिन्न सेतु सव लोग

छं०—नृप पापपरायन धर्म नहीं। करु दंड विडंव प्रजा नितहीं
कविवृंद उदार दुनी न सुनी। गुन-दूषन-व्रात न कोपि गुनी

यहां ऐसी भी शंका का संभव है कि इतने अल्प और संदिग्ध प्रमाणों से ही गोसाईंजी के मथ्थे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से राजकारण क्यों लादा जाय ? इस शंका का सविस्तर समाधान करने का यहां अवसर नहीं ऐसा हमें दुःख से कहना पडता है । परंतु शंकाकारों के सुभीते के लिये हम उनको समाधान का स्थल बतलाते हैं । वह स्थल तुलसीदासजी का कवित्त-रामायण है । शंकाकार उसका परिशीलन अवश्य करें और देखें कि अकबर-कालीन दशे-स्थिति का वर्णन गोसांईजी ने कैसी हृदयस्पर्शी वाणी से किया है । गोसाईंजी का राजकीय अंतरंग उस काव्य में अलौकिक स्पष्टता से प्रतिबिंबित हुआ है । वह नीचे के कवित्तों में कोई भी देख लेवें:—

[१]

वेद पुरान विहाय सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है ।
काल कराल नृपाल कृपाल न राज-समाज बड़ोइ छली है ।
बरन विभाग न आश्रम धरम दुनी दुख दोष दरिद्र दली है ।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है ॥

[२]

खेती न किसान को भिखारि को न भीख बलि वणिकको वणिज न चाकर को चाकरी ।
जीविका विहीन लोग सीदमान सोचबस एक एकन सो कहां जाइ का करी ॥
बेदन्ह पुरानन्ह कही लोकहूं विलोकियत सांकरे सबै को राम रावरी कृपा करी ।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु दुरित दहत देखि तुलसी हहा करी ॥

शंकाकार अब स्वयं ही देखेंगे कि अकवर कालीन भारत की घोर-तर विपन्नावस्था से गोसांईजी का अंतःकरण किस प्रकार व्यथित था और वे उस स्थिति के सुधार के हेतु श्रीरामचन्द्रजी से कैसी आर्तता से विज्ञप्ति करते रहे।

अब शंकाकार ही कह दें कि राजकारण का बोझ गोसांईजी पर निरर्थक ही (अथवा जबरदस्ती ही) लादा जा रहा है, या वह उन्हों ने ही बुद्धि-पुरःसर अपने सिर पर लाद लिया है।

(३) तुलसीकृत रामायण की रचना का उद्देश।

सामर्थ्य आहे चळवळीचें। जो जो करील तयाचें।
परंतु येथें भगवंताचें। अधिष्ठान पाहिजे॥
दासबोध २०-४-२६

(अर्थ—जो कोई करे, सामर्थ्य आंदोलन में ही है। परंतु उसे परमेश्वर का अधिष्ठान होना चाहिये।)

प्रस्तुत प्रश्न के संबंध में बहुत लोगों से आजतक हम चर्चा करते आये हैं पर हमको उन सब के विचारों की दिशा एकसी ही प्रतीत होती रही। सब के मत से यही मालूम हुआ कि राम-प्रेम-प्रसार ही रामायण का हेतु है। हमको यह हेतु ठीक नहीं जंचता; इसके कारण दो हैं:—

१ राम-प्रेम-प्रसार हमारे मत से साध्य नहीं, साधन है।

२ यदि वह साध्य हो, तो फिर उसमें बिलकुल ही एक-पक्षीयता आ जायगी।

स्वयं गोसाईंजी ने काव्यारंभ में ही काव्य-रचना के उद्देश का जो उल्लेख किया हुआ है वह ऐसा है—

"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—
भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ॥

इससे स्पष्ट होता है कि रामगुण-विशिष्ट तथा मंजुल इस भाषा-काव्य का प्रचार गोसाईंजी 'स्वान्तः-सुख' के लिये कर रहे हैं। अर्थात् 'स्वान्तः-सुख' कवि का साध्य और काव्यरूप से राम-प्रेम-प्रसार साधन है। इस रीति से साध्य-साधन-भाव निश्चित तो हुआ, परंतु इतने से ही हमारा कार्य-भाग पूरा नहीं हुआ है। इस 'स्वांतः' शब्द के गर्भिताशय का निश्चित रूप जबतक स्पष्ट नहीं होगा तबतक साध्य के स्वरूप का निश्चय करने में हम समर्थ नहीं हो सकते।

तुलसीकृत रामायण की बहुतसी टीकाएं प्रचलित हैं, परंतु इस दिशा से विचार करने का प्रयत्न हमने किसी भी टीका में नहीं देखा। हमें बड़ी आशा थी कि मिश्रबन्धु की 'नवरत्न' की कोई एकाध चमकीली किरण झलककर अपना कुछ प्रकाश इस प्रश्न पर डालेगी, परंतु वहां भी हमें 'हा हत!' कह कर हाथ बांधे बैठे ही रहना पड़ा। अस्तु, अब ऊपरि-निर्दिष्ट साध्य के स्वरूप के निर्णय करने की जबाबदारी हम पर आ पड़ी है और उसे पहिचानकर ही हम उससे मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं।

यथार्थ में यदि देखा जाय तो 'तुलसीदासजी कौन थे?' और 'तुलसीदासजी के रामायणकाल की देशस्थिति कैसी थी?'

इन दो लेखों के आशय से ही तुलसीकृत रामायण का उद्देश स्पष्ट हो चुका है। अब केवल नाम-मात्र के लिये ही हमें उसका उच्चार करना है।

श्री राम-चरित्र का असली ध्येय क्या है इस प्रश्न पर अब कोई नया निर्णय देना नहीं है; वह राम-चरित्र के साथ ही निश्चित हो चुका है। वह इस प्रकार है:—

मर्त्यावतार-स्त्विह मर्त्य-शिक्षणं रक्षो-वधायैव न केवलं विभोः॥

(भागवत स्कं. ५ अ. १९ श्लो. ५)

हम यहाँ विशेषतः इसी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि उपर्युक्त ध्येय को प्रदर्शित करने वाली विभूति स्वयं श्री हनुमानजी ही हैं। हनुमानजी और गोसांईजी के ध्येय में विसंगतता रहना कभी भी संभव नहीं।

यदि "मर्त्य-शिक्षण" ध्येय न होता तो गोसांईजी ने अपने राम-चरित-मानस-काव्य में व्यक्ति, कुटुंब, समाज देश, राज्य, धर्म, ज्ञान, भक्ति इ० विविध विषयों पर इतनी मार्मिक रीति से विचार करने का प्रयत्न ही न किया होता।

सारांश, 'स्वांतः सुखाय......मातनोति' इस वचन का हमारे मत से यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज को अव्यवस्थित देखकर फिर से उसे सुसंगठित करने के लिये गोसाईंजी के दयार्द्र चित्त में आन्दोलन करने का निश्चय हुआ और राम-प्रेम-

प्रसार को अधिष्ठान (साधन) बनाकर लोक-शिक्षा का आन्दोलन करने के लिये (साधन की ओर) वे झुके ।

यहां साश्चर्य और साशंक पृच्छा होने का संभव है कि क्या लोकशिक्षात्मक साध्य के लिये राम-प्रेम-प्रसार भी साधन हो सकेगा ? हम तो शिरोलिखित श्रीसमर्थजी की ओवी द्वारा इस पृच्छा का समर्पक उत्तर दे चुके हैं । पारमार्थिक वाङ्मय--कौन से भी काल का क्यों न हो——यदि दे तो वही उत्तर देवेगा । तात्पर्य, वही उत्तर सर्व-सामान्य है ।

उत्तर जैसा सर्व-सामान्य है वैसी उसकी उपपत्ति भी सर्व-सामान्य है। गोसाईंजी के उपपत्ति की भी वही दिशा है जैसी किः—

राम विमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई विन पाई
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहिं सुखाई

इसका भाव यह कि भारत को चाहे सारी पृथ्वी, आकाश और पाताल का साम्राज्य क्यों न प्राप्त हो, उसे रामप्रीणनात्मक स्वधर्म का अधिष्ठान मिले विना उसका सभी ऐश्वर्य व्यर्थ है, कारण उसे स्थायीभाव कभी भी न प्राप्त होगा । तात्पर्य भारत का ऐश्वर्य स्वधर्माधिष्ठित हो तभी वह प्रेयस, और यदि वैसा न हो तो वह सर्वथैव हेय। श्रीशुकदेवजी का मत भी वही है:——

भाग. स्कं. ५, अ. १

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयंते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति ॥ १९ ॥

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयात्यभयं पदं हरेः ॥ २३ ॥

प्राप्ता नृजातिं त्विह येच जंतवो ज्ञानाक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम् ।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते भूयो वनौका इव यांति बंधनम् ॥ २५ ॥

इसका भाव यह कि मनुष्य का ऐश्वर्य मोक्षरूप प्राप्तव्य का साधनीभूत होना चाहिये, यह मोक्षरूप ध्येय भारताभिध भू-भाग में विशेषता से सुलभ है। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य उस साध्य के प्राप्तिके लिये परिश्रम न करे वह केवल वनपशु है। सारांश, भारतवर्ष का साम्राज्य (अथवा स्वराज्य) मोक्षरूप स्वधर्म का साधन समझना चाहिये। यदि उसका ध्येय साम्राज्य (अथवा स्वराज्य) ही समझा जाय तो 'इदंच नास्ति परंनलभ्यते' ऐसी उसकी दुर्दशा होने में कुछ भी संदेह नहीं।

एवंच भारतवर्ष को अध्यात्म की ही बालगुटिका पचेगी, उसे आधिभौतिक की मात्रा कदापि न सह सकेगी। इसी कारण उसकी लोक-शिक्षा भगवत्प्रेम—प्रसारात्मक ही होनी चाहिये। इस विषय में प्राचीन और आर्वाचीन सभी कवियोंका मतैक्य है।

(४) तुलसीकृत रामायण का सच्चा स्वरूप कैसा है ?

'नाना पुराण निगमागम-संमतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ॥'

अभी तक किये हुए विवेचन का सारांश यह है कि ईश-प्रेम-रस-सिद्धि के लिये वाल्मीकि ही तुलसीदास के रूप से प्रगट हुए। परन्तु समय बहुत ही प्रतिकूल होने के कारण, उनके चित्त में अत्यन्त करुणा उत्पन्न हुई और देशस्थिति सुधारने के उद्देश से उन्होंने लोक-शिक्षा के लिये, रामायण की योजना की। इन सब बातों से इसका अनुमान साधारण तौर से करना कुछ कठिन न होगा कि रामायण का सच्चा स्वरूप किस तरह का होना चाहिये।

शिक्षा की तीन पद्धतियां हैं:—

१ प्रभु-संमित (मालिक के अर्थात् श्रेष्ठता के नाते से), २ सुहृत्-संमित मित्र के अर्थात् बराबरी के नाते से), ३ कान्ता-संमित (पत्नि के अर्थात् कनिष्ठता के नाते से)।

प्रतीत होता है कि गोसाईंजी ने इनमें से तीसरी, यानी कान्ता-संमित पद्धति स्वीकृत की और यही कारण है कि उनकी रामायण इतनी मृदु, मधुर और मार्मिक हुई है।

रामायण का सच्चा सच्चा स्वरूप गोसाईंजी ने शिरोलिखित श्लोक के पूर्वार्ध के द्वारा ग्रंथारंभ में ही निश्चित कर दिया है। उत्तमोत्तम रत्नों को चुनकर कुशल कारीगर जैसे कोई सुंदर और बहुमोल नग तयार करता है, ठीक उसी तरह गोसांईजीने भी रामायण की रचना में किया है। आध्यात्म-रामायण को उन्होंने मूल आधार बनाया (कहां ही है—"कहउं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संवाद"—रामायण पृ० ३९ दो-६०), और भागवत की

भक्ति का पहिराव लेकर उसपर चढ़ा दिया । इस कारण ग्रंथ में आरंभसे ही एक अपूर्वता आचुकी । फिर प्रसन्न— राघव आदि नाटकों से विशिष्ट प्रसंग और अलंकार आदि लेकर व्यवस्थित रीति से भाषा में व्यावहारिक, शिष्ट और प्रेम–प्रचुर बनाकर तथा मूल कथाओं का मार्मिक रीति से परिवर्तन कर उन्हें ग्रथित कर दिया। यही नहीं किन्तु उन्होंने अपनी मौलिक तथा अनुच्छिष्ट कल्पनाओंसे उसकी आवश्यक पूर्ति भी की । इस प्रकार ग्रंथ की अपूर्वता में और भी विशेष अपूर्वता आगई । रामायण को आज अखिल साहित्य का शिरोरत्न मानने की जो प्रथा चली आ रही है उसका मुख्य कारण भी यही है ।

अब हमें जो बतलाना शेष है वह यह कि रामायण गुरु-शिष्य पिता-पुत्र, पति-पत्नि सव्य-सेवक, पोष्य-पोषक, समाज-नेता, राजा-प्रजा, इत्यादिक ऐहिक सम्बन्धों को शुद्ध पारमार्थिक बनाने की शिक्षा देनेवाला सर्वांगसुंदर और सर्वोपयोगी शास्त्रीय भाषा-निबंध ही हुआ है।

शास्त्र की दृष्टि से रामायण में एक बडा दोष यह है कि वह व्याकरण से बहुत ही विभक्त है, पर उस विभक्तता की त्रुटि ईश-भक्ति से प्रपूरित हो जाने के कारण ' एकोहि दोषो ', इस कालीदास की उक्ति के अनुसार वह दोष, दोष ही नही समझा जा सकता ।
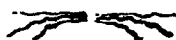
काव्य समालोचना ।

'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि'

यह ग्रंथारंभ का अवतरण गोसाईजी की अपूर्व विद्वत्ता का पूरा२ द्योतक है। 'रामचरितमानस'—का रूपक साहित्यादि शास्त्रों में उनकी अभिज्ञता सिद्ध करता है। प्रथम तो उनका बढ़ा चढ़ा विद्याव्यासंग और फिर उसमें भागवत की भक्ति की जोड़। इसी कारण 'तुलसी रघुनाथगाथाभाप निबंध—मतिमंजुलमातनोति' ऐसा निश्चयपूर्वक विधान करने का आत्मविश्वास उन्हें हुआ। अब इस समालोचना द्वारा देखना चाहिये कि ऐसे आत्मविश्वास से की हुई प्रतिज्ञा उनकी कृति (रामायण) में कहांतक प्रतीत होती है।

भगवत्प्रेम उत्पन्न होकर सकल जीवों का उद्धार सुलभ हो ऐसे भगवद्गुण वर्णन करने की आज्ञा नारदजी ने व्यासजी को दी इसप्रकार का उपोद्घात भागवत के प्रारंभ में मिलता है। यही

प्रसाद-परंपरा इस रामायण को भी कारणीभूत हुई ऐसा 'सुमिरि सिवा सिव पाई पसाऊ। बरनउं रामचरित चित चाऊ' इस गोसांईजी की उक्ति से स्पष्ट निर्दिष्ट होता है। भागवत जैसी कि 'येनात्मा संप्रसीदति' हुई है उसी प्रकार रामायण भी यथार्थ में 'चित चाऊ' हुई है।

वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के अनुसार इस रामायण की भी कांड-संख्या सात ही है। हमारी समालोचना अब इन कांडों के क्रमसे ही होगी।

बाल-कांड।

सब में बड़ा कांड यही है। इसके दो सम भाग स्पष्ट ही दिखते हैं। रामचरित्र का प्रारंभ उत्तरार्ध से होता है, इस कारण पूर्वार्ध उत्तरार्ध की प्रस्तावना ही समझना चाहिये।

पूर्वार्ध के विषयों का क्रम इस प्रकार से है: —

(१) वंदना, (२) रामचरित मानस का रूपक, (३) पार्वति-परिणय, (४) शिव-पार्वति संवाद, (५) रामावतारकारण, और (६) रावणादिकों के जन्म और अत्याचार।

वंदना का भाग पूर्ण काव्यमय है। पार्वति-परिणय में का दक्ष-यज्ञविध्वंस-वर्णन श्रीमद्भागवत के स्कंध ४ में बहुत विस्तार से किया है। गोसांईजी ने उसे बड़ा ही संक्षेप दिया, और फिर उसको अनेक ललित कथाओं का योग भी दिया। इस कारण

उनकी पार्वतिपरिणय-कथा संकुचित होकर भी बड़ी ही चटकीली और मनोहर हुई है । शेष भागों में भी भिन्न२ कथाएं संकलित होने से उनमें भी रस और वैचित्र्य उत्पन्न हुए हैं ।

पूर्वार्ध में वे भिन्न२ भागों के संधि प्रेक्षणीय ऋजुता से मिले हैं । वहां गोसांईजी का विलक्षण बुद्धिचातुर्य निःसंदेह प्रेक्षणीय हुआ है ।

(१) स्वामिजी की उपासना:—(रामा. पृ. ३)

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् । इसमें गुरुको शंकररूप कहने से स्वामीजी की शंकरोपासना स्पष्ट ही दिखती है । यदि वे रामोपासक होते तो गुरुं 'राघवरूपिणम्' ऐसा ही शब्द प्रयोग उन्होंने किया रहता ।

(२) संतसमाज:—(रामा. पृ. ६)

इस वर्णनमें संतसमाज को प्रयागराज का रूपक दिया है । यह एक स्वतंत्र कल्पना है और वह बड़ी ही सुंदर है ।

मुद मंगल मय संत समाजू । जो जगजंगम तीरथराजू
राम भक्ति जहं सुरसरि धारा । सरस्वति ब्रम्ह विचार प्रचारा
विधि निषेधमय कलिमलहरणी । कर्म कथा रविनंदनि वरनी
हरिहर कथा विराजित वेनी । सुनत सकल मुद मंगल देनी
वट विश्वास अचल निज धर्मा । तीरथ राज समाज सुकर्मा
सवहिं सुलभ सब दिन सब देशा । सेवत सादर समन कलेशा
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ

अंत की चौपाई में 'सद्य' शब्द है। उसमें निम्नलिखित भागवतीय श्लोक की ध्वनि दिखलाई देती है—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलादयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

(३) खलवर्णन—(पृ. ९)

यह वर्णन बडा ही मार्मिक है उसमें की बहुतसी कल्पनाएं कवि के निजकी दिखती हैं। वर्णन विस्तृत होने के कारण यहां उद्धृत नहीं किया जाता।

(४) श्रीधरस्वामीजी का अनुकार—(पृ. २२)

भागवत स्कं. ६, अ. २, श्लो. १४ में 'वैकुंठनामग्रहणं' पद है। उसकी टीका में श्रीधरस्वामीजी ने 'ग्रहणं' पाद को अलग निकाल कर उसकी व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि 'गृह्यते अनेन' यानी भगवान को खींचकर हृदय में धारण करने का 'वैकुंठनाम' यानी भगवन्नाम साधन है। 'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे॥ यह चौपाई उसी व्युत्पत्ति का शुद्ध अनुकरण दिखती है।

(५) रामकी अपेक्षा नामकी श्रेष्ठता:—(पृ० २३-२४)

इसमें सगुण या निर्गुण रामजी की अपेक्षा उनका नाम ही श्रेष्ठ है यह सिद्ध करने की कुशलता बहुत ही ललित है। यह वर्णन इतना मार्मिक है कि यहां उसका उल्लेख करना बहुत

आवश्यक था, परंतु विस्तार भय के कारण उसकी उपस्थिति नहीं हो सकती । यहां केवल इतना ही सुझाकर रखते हैं कि रामजी की अपेक्षा उनके नाम के महत्व को विशेष ठहराना यह स्थूल दृष्टि हुई । हमारी मति से यह वर्णन यही सिखलाता है कि विषय गहन से गहन क्यों न हो उसका विवेचन करते समय शिक्षक को चाहिये कि अपनी रसीली शिक्षणकला से उसे मुग्धकारी और चित्ताकर्षक ही बनाकर छोड़े ।

(६) शिवपार्वति-विवाह-वर्णनः—(पृ. ३६-७२)

इसमें अनेक स्थानों की अनेक कथाएं लेकर दी हुई हैं, परंतु वे सब ऐसी व्यवस्थित रखी गई हैं कि जिससे पाठकों को वह एकही कथासी ज्ञात हुए बिना नहीं रहती । और फिर वही कथा राम-चरित्र की प्रस्तावनासी जोडी जाने से तो पाठक को कविकौशल्य देख आश्चर्यमग्न होना पडता है ।

इस वर्णन में किया हुआ श्रोतृवक्तृधर्म का उपदेश बडाही मननीय है ।

इस वर्णन के अंत का निम्नगामी दोहा स्वामीजी की शंकरोपासना पूरी तरह सिद्ध करता है:—

'प्रथम कहेउं मैं शिवचरित बूझा मर्म तुम्हार'

(७) भागवतानुकरण—(पृ. ७७)

नीचेकी चौपाइयां प्राय: भागवत का भाषांतर ही दिखती हैं—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना । स्रवन रंध्र अहि भवन समाना
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा । लोचन मोर पंख करि लेखा
ते सिर कटु तुंबरि सम तूला । जे न नमत हरि गुरु पद मूला
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी । जीवत सब समान तेइ प्रानी
जो. नहिं करइ राम-गुण-गाना । जीह सो दादुर जीह समाना
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती । सुनि हरि चरित न जो हरिषाती

भाग. स्कं. २ अ. ४

बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न श्रृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥२०॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिंगानि विष्णोर्न निरीक्षतोये ॥२२॥
जीवञ्छवो भागवतांघ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ॥२३॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥२४ ॥

(८) रामजन्मोत्सव-वर्णन—(पृ. १३१)

यह वर्णन वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में नहीं है, परंतु भागवतके श्रीकृष्णजन्म-वर्णनसे इस प्रकार बहुत ही मिलताजुलता है:—

सीतल मंद सुरभि वह बाऊ ।=ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगंधवहः शुचिः
हर्षित सर संतन्ह मन चाऊ ।=मनांस्यासन्प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्
बन कुसुमित..................।=स्तवका वनराजयः
स्रवहिं सकल सरितामृत धारा ।=नद्यः प्रसन्नसलिलाः
गगन विमल संकुल सुरयूथा }
गावहिं गुन गंधर्व बरूथा } =जगुः किन्नरगंधर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः
बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी ।=मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः
गहगहि गगन दुंदुभी बाजी ।=नेदुर्दुंदुभयो दिवि

(९) अयोध्यासायंकालरूपक—(पृ. १३५)

यह बड़ा ही सुंदर है और उसकी कल्पना भी नूतन सी दिखती है । वह रूपक यह है—

अवध पुरी सोहइ एहि भांती । प्रभुहि मिलन आई जनु राती
देखि भानु जनु मन सकुचानी । तदपि बनी संध्या अनुमानी
अगर धूप बहु जनु अंधियारी । उड़इ अबीर मनहुं अरुनारी
मंदिर मनि—समूह जनु तारा । नृप-गृह-कलस सो इंदु उदारा
भवन-वेद-धुनि अति मृदु बानी । जनु खग-मुखर-समय जनु सानी

(१०) बाललीला वर्णन—(पृ० १४०)

अध्यात्मकारने बाललीलओंका स्पर्श, थोडा भी क्यों न हो, किया है, परंतु वाल्मीकिने तो उन्हें बिलकुल ही छोड दिया । अध्यात्मका वर्णन इस प्रकार है:—(बा. कां. स. श्लो. ४७-४९)

दृष्ट्वा दशरथो राजा कौसल्या मुमुदे तदा ।
भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहीति चासकृत् ॥
आव्हयत्यातिहर्षेण प्रेम्णा नायाति लीलया ।
आनयेतिच कौसल्यामाह सा सस्मिता सुतम् ॥
धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम् ।
प्रहसन्स्वयमायाति कर्दमांकितपाणिना ॥

गोसांईजीने देखिये इन्हीं का वर्णन किस प्रकार किया है:—

भोजन करत बोल जब राजा । नहिं आवत तजि बाल समाजा
कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई
निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरइ जननी हठि धावा
धूसर धूरि भरे तनु आये । भूपति बिहंसि गोद बैठाये

दो०-भोजन करत चपल चित, इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ॥

(११) दाशरथिओंका उपनयन और शिक्षाप्रकार:—(पृ. १४१)

अध्यात्म रामायणके तीसरे सर्गके रामशिक्षाविषयक

उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदाः।
धनुर्वेदेच निरताः सर्वशास्त्रार्थवेदिनः ॥६०॥

इस श्लोकको गोसांईजीकी इन चौपाइयों में देखिये:—

भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता।
गुरुगृह गये पढन रघुराई। अलप काल विद्या सब पाई।
जा की सहज स्वास स्रुति चारी। सो हरि पढ यह कौतुक भारी।

केवल एकही (तीसरी) चौपाईसे कितना भक्तिरस भरा गया सो देखने लायक है। स्वामीजीकी रसोत्पादन की शैली यहाँ थोडेमें ही स्पष्ट होती है।

(१२) रामलक्ष्मणजीका जनकनगरदर्शन और पुरस्त्रियोंका भाषण:—(पृ० १५७)

यह प्रसंग अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणमें नहीं है। गोसांईजीने इन त्रुटियोंको पूर्ण करनेकी कल्पना संभवतः भागवतके श्रीकृष्ण-मथुरा-प्रवेश और विदर्भप्रवेश इन वर्णनोंसे ही की होगी। इसीको कहते हैं सच्चा योजकत्व। इसके अतिरिक्त भाषणके ढंग भी भागवत की अपेक्षा अत्यंत सरस और प्रेममय हुए हैं, और विशेषतः बालकोंका प्रेम रामजी पर चलते चलते एक

एकी हो जाने का चित्र तो वडी ही खुवी से दिखलाया गया है। यदि यह प्रसंग छोड दिया गया होता, तो सारी जनक नगरीपर इस प्रसंग से रामजी की, जो एक मनोहर प्रेम की छाया फैली हुई दिखाई पडती है वह, केवल एक धनुर्यज्ञ-मंडप में ही दिखलाई देती।

(१३) श्रीसीतारामजीका-पुष्प-वाटिका-प्रवेश—(पृ० १६४)

अध्यात्म या वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग नही है। वह प्रसन्नराघव नाटक के दूसरे अंक से लिया गया है। परंतु उसका नाटकीय स्वरूप निकालकर उसे श्रीरामजी को शोभित होने लायक ही गंभीर और उदात्त स्वरूप दिया गया है। यह प्रवेश विनय और शृंगार इन दोनों रसों के ललित मिश्रणसे रामायणमें काव्य-कुशलताका एक अपूर्व उदाहरण है। यह प्रवेश और प्र. रा. नाटकका अंक दोनो भी अतीव विस्तृत होनेके कारण उनका उल्लेख यहाँ हो नहीं सकता।

(१५) धनुर्यज्ञमंडपमें रामचंद्रजीका आविर्भावः—(पृ. १९७२)

धनुर्यज्ञमंडपमें के रामरूपका वर्णन भागवत स्क. १० अ. ४३ श्लो. १७ का ही शुद्ध भाषांतर है। नीचे दिये हुए अवतरणोंसे उसकी सत्यता विदित होगीः—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

राम-रूप वर्णन की चौपाइयाँ (रा. पृ. १७२):-

देखहि भूप महारणधीरा । मनहुं वीर रस धरे शरीरा
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी । मनहुं भयानक मूरति भारी
रहे असुर छल जो नृप वेषा । तिन प्रभु प्रकट कालसम देषा
पुर वासिन देखे दोउ भाई । नर भूषण लोचन सुखदाई

दो०—नारि विलोकहिं हर्षि हिय निज निज रुचि अनुरूप ।
जनु सोहत शृंगार धरि मूरति परम अनुप ॥

चौ०-विदुषन प्रभु विराट मय दीखा। वहु मुख करपग लोचन शीसा
जनक जाति अवलोकहिं कैसे । स्वजन सगे प्रिय लागहिं जैसे
सहित विदेह विलोकहिं रानी । शिशु सम प्रीति न जाइ बखानी
योगिन परम तत्वमय भासा । शांत शुद्ध सम सहज प्रकासा
हरि भगतन देखे दोउ भ्राता । इष्ट देव इव सब सुखदाता
जेहि विधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहि तस देखेउ कोशल राऊ

परंतु-(रा. पृ. १७२, १७३)

रामहि चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहिं कथनीया
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहै कवि कोऊ

इन आन्तिम दो चौपाइयों से ही दिख पडेगा कि गोसांईजी केवल दूसरोंके भावोंको ही लेकर कवि बन जाने वालों में से न थे, किंतु उनकी भावनिरीक्षण की निजी पूंजी इतनी विस्तृत और अत्यत थी कि उसकी बराबरी करना बडे बडे कविकला-प्रवीणों के लिये भी कठिण होगा ।

(१६) सीता-स्वयंवरः-(पृ० १७५)

अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणका धृतिस्वयंवर-वर्णन किसी दरिद्रीके घरके सीमांत-पूजन (वरकी अगुवानी) के वर्णन के समान ही है । गोसाईंजीनें अपनी रामायणमें उसे पूर्ण दरबारी ठाठ दे दिया है । उसमें उन्होंनें रावणबाणादिकों का लाना, जनकजी द्वारा उनका धिक्कार करवाना आदि प्रसंग बहुत ही अनोखे डाले दिय हैं । इस नवीनताकी छटा उन्होंनें प्रसन्नराघव-नाटक और हनुमन्नाटक से ही ली है ।

उदाहरणार्थः—(पृ. १७७)

चौ०—द्वीप द्वीप के भूपति नाना । आये सुनि हम जो पन ठाना
देव दनुज धरि मनुज सरीरा । विपुल वीर आये रनधीरा

दो०—कुअँरि मनोहर विजय बडि कीरति अति कमनीय ।
पावनिहार विरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय ॥

चौ०—कहहु काहि यह लाभ न भावा । काहु न संकर चाप चढावा
रहउ चढाउब तोरब भाई । तिल भरि भूमि न सकेउ छुडाई
अब जनि कोउ माखे भट मानी । वीर विहीन मही मैं जानी

प्रसन्न-राघव-नाटक— अंक १ श्लो. ३२

आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयःसर्वे समभ्यागताः
कन्येयं कलधौतकोमलरुचिःकीर्तिश्चलाभास्पदम् ।
नाकृष्टं नच टाकृतं न नमितं स्थानाच्च न त्याजितं
केनापीदमहो धनुः किमधुना निर्वीरमुर्वीतलम् ॥

का बापुरो पिनाक पुराना = जीर्णः पिनाकः कियान्
सकउँ मेरु मूलक इव तोरी=मेर्वादीनपि भूधरान्न गणये
अहह तात दारुन हठ ठानी=अहह तात पणस्तव दारुणः

चौ०—दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला । धरहु धरनि धरि धीर न डोला
राम चहहिं संकर धनु तोरा । होहु सजग सुनि आयसु मोरा

हनु. नाटक अं. १ श्लो. २१

पृथ्वी स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां ।
त्वं कूर्मराज तादिदं द्वितयं दधीथाः ॥
दिक्कुञ्जराः कुरुत तन्त्रितये दिधीर्षां ।
रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥

रा. पृ. १८३

भरि भुवन घोर कठोररव रवि-बाजि तजि मारग चले ।
चिक्करहि दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥
सुर असुर मुनिकर कान्ह दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं

× × ×

हनु. ना. अं. १ श्लो. २६

भ्युत्यद्भीमधनुः कठोरनिनदस्तत्राकरोद्विस्मयम् ।
त्रस्यद्वाजिरवेरमार्गगमनं शंभोः शिरःकंपनम् ॥
दिग्दंतिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मूलनम् ।
वैदेहीमदनं मदाब्धिदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम् ॥

परंतु वर्णन-शैली की खूबी खुद गोसांईजी की है और वह उनसे इतनी रसीली बनी है कि उसको दूसरा जोड़ ढूंढ़ने से भी नहीं मिलेगा । वीररस, करुणरस और श्रृंगार-रस का मिश्रण, सीता-स्वयम्वर-वर्णन में, इतना चित्ताकर्षक होने का कारण केवळ भाषालंकार ही नहीं किंतु उनका उच्च कोटि का भाव—निरीक्षण और उनकी प्रबोधशक्ति है । जनकमहिषी, जानकी, इत्यादिओं के

भाषण पढने से हमारे कथनकी सत्यता विदित होगी। अल्पसा नमूना दिया जाता है उसे पाठक देख लेंगे:—

चौ०—देखी विपुल विकल बैदेही । निमिप विहात कलप सम तेही
तृषित वारि विनु जो तनु त्यागा । मुये करइ का सुधा तडागा
का बरपा जब कृपी सुखाने । समय चूक पुनि का पछिताने
अस जिय जानि जानकी देखी । प्रभु पुलके लखि प्रीति विसेखी

(१७) परशुराम-गर्वहरण-प्रसंग:—(पृ० १८८)

वाल्मीकि और आध्यात्म रामायणों में यह प्रसंग बारात वापस आते समय मार्ग में ही दिखलाया गया है । प्रसन्न-राघव नाटक में यही प्रसंग विवाह के प्रथम ही धनुर्याग-मंडप में बतलाया गया है । और गोसांईजी ने भी इसी का अनुकरण किया है । बहुतसा भाषा-सौष्ठव भी वहीं से लिया गया है (प्रसन्न-राघव नाटक अंक २ या देखो) । परंतु इतने ही विवरण से पूरा नहीं पड़ता ।

हमारे मत से इस प्रसंग को दिया हुआ स्थलांतर कवि की असामान्य कल्पकता जतलाती है । परशुरामजी के सदृश अखिल क्षात्रसमूह को केवल एक दो बार ही नहीं लगातार इक्कीस बार ‘ त्राहि भगवान् ’ कर दांतों में तृण पकड़ानेवाली प्रखर मूर्ति का गर्वहरण किसी निर्जन स्थान में हो तो वह कैसा, अथवा जिस क्षात्रसमूह की पीठ परशुरामजी ने नरम की थी प्रत्यक्ष उन्हीं के सामने स्वयं परशुरामजी का ही नरम किया जाना यह कैसा ?

फिर भी खूबी देखिये। रामचन्द्रजी के धनुर्भंग के कारण सीता देवी हाथ से निकल गई। इसे राजसमूह ने मानहानि और वस्तुहानि समझी। इसका परिणाम यह हुआ कि सब राजा क्रोधसे बिलकुल ही धुंद होकर धनुर्यागमंडप में ही एकादिल से राम-लक्ष्मणजी पर हमला करने के लिये उद्यत हुए। ऐसे ऐन समय परशुरामजी का उसी स्थल पर आविर्भाव दिखलाना, और अंत में रामलक्ष्मणजी से ही उनको परास्त करवा कर तथा सिर झुकवा कर मंडप से बाहर निकलवाना यह बात प्रधानमल्लनिबर्हण न्याय के अनुसार पृथ्वी के वीर्यशौर्यशाली क्षात्रवर्ग द्वारा श्रीरामलक्ष्मणजी को अजेयपत्र समर्पण करने के सदृश नहीं तो क्या है? कवि की ऊर्जित स्वयंस्फूर्ति दर्शित करने वाला इससे बढ़कर अब और कौनसा ढंग हो सकता है?

भाषा, रस, और भाव की दृष्टि से तुलसीकृत रामायण का परशुरामगर्वहरण इतना सुलक्षण हुआ है कि उसको दुसरी उपमा नहीं दी जा सकती। भयंकर दुःखके पश्चात्‌ही सुख होने पर जैसी सुखकी सच्ची इज्जत की जाती है, ठीक उसी तरह सीतारामजीके विवाहकी भी बात है। इस विवाहके आनंदकी परिणतताका सच्चा कारण सूक्ष्मतासे और शांतता से देखा जाय तो परशुरामजी का गर्वहरण ही समझा जावेगा।

फिर भी एक और विशेषता देखने योग्य है। परशुराम-गर्वहरण नजीक उतारनेसे रामजीका पक्ष और भी प्रबल हुआ है। धनुर्भंगके पश्चात् उपस्थित सब राजाओंको रामलक्ष्मणजी पर चढ़ाई

करनेकी आकांक्षा हुई। इससे स्पष्टही है कि रामलक्ष्मणजीका बल उन्हें धनुर्भंगसे पूरा अनुमित नहीं हो सका। वह अनुमान परशुरामजी के पराभवने ही करा दिया। इसका तात्पर्य, यही होता है कि रामलक्ष्मणजीके प्रभावकी छाप धनुर्भंगके पश्चात् जो अवशेष रही थी उसकी पूर्तता परशुरामगर्वहरण ने कर दी। इस दृष्टि से अब देखिये कि परशुरामगर्वहरण के स्थलांतर में कैसे कैसे अभिप्राय भरे हैं, और वह कैसा तारतम्यभाववाला और कितना रसप्रसववाला हुआ है।

किसी भी प्रकारसे आलोचना हो, परशुरामगर्वहरण राम-जानकी परिणय की प्रस्तावना ही समझी जायगी यह नितान्त सत्य है।

(१८) विवाहवर्णनः—(पृ० २०९)

ऐसा विवाहोत्सव अध्यात्म अथवा वाल्मीकि रामायणमें नहीं है। शास्त्र, व्यवहार, देशाचार, और अनुकूलता का अनुकरण करते हुए गोसांईजीने बड़ी ही मार्मिकता से सहृदय और चतुर कविको शोभास्पद ऐसा ही वर्णन किया है। इससे उनका विपुल व्यवहारज्ञान, विद्वत्ता, कविकौशल्य और शिक्षा-चातुर्य किसको स्वीकृत न होगा।

इस विवाह-वर्णनके कुछ विशेष स्पृहणीय भागों की सूची यहाँ पाठकों के निरीक्षण के लिये देते हैं। स्थलसंकोच के कारण हम चौपाइयां नहीं दे सके:—

इस विवाहवर्णनमें एक विशेषता यह दिख पडी कि दशरथजी के बरात में स्त्रीजन दर्शनको भी न होने के कारण वह एक पुरुषोंका प्रदर्शन ही बना था, परंतु अध्यात्म के

ततो जनकराजेन मंदिरे सन्निवेशितः ।
शोभने सर्वभोगाढ्ये सदारः ससुतः सुखी ॥

इस श्लोक से यही ज्ञात होता है कि दशरथजी और वशिष्ठजी मिथिला में विवाह के लिये सस्त्रीक गये थे। तो फिर इसका क्या कारण है कि गुसांईजीने अपने बरात को स्त्रियों का स्पर्श भी न होने दिया ? स्त्रियों को शामिल करना उन्होंने क्यों न उचित समझा ? इसका कारण या तो जातिव्यवहार हो, या

एक नई हीं चाल डालने की उनको इच्छा हो। इसके संबंध में निश्चित कुछ भी कहा नहीं जा सकता । परंतु यह सच है कि उस समय की देश की दशा के अनुसार स्त्रियों सहित लंबेचौडे प्रवास सुरक्षित न थे ।

बहुधा ऐसे आक्षेप किये जाते हैं कि (१) रामचरित-मानस का रूपक, और (२) प्रतापभानु की कथा के विस्तार त्रासदायक हुए हैं, तथा (३) परशुराम-गर्व-हरण अप्रगल्भ हुआ है । ऐसे आक्षेप बहुधा प्रकृति-स्वभावानुसार ही होते हैं, इस कारण पहिले दो प्रसंगों के विषय में कोई निश्चित समाधानकारक विधान करना संभव नहीं; परंतु तीसरे के संबंध में बोले बिना नहीं रहा जाता । कोई कोई विद्वान् कहलवा लेनेवालों ने परशुराम-गर्व-हरण पर गोसांईजी की खूब ही खबर ली है और भाविक पाठकों की चित्तवृत्तियों को दुखाया है । अब हम इस प्रसंग का विचार खुले दिल से परंतु काव्य-दृष्टिपर ख्याल रखते हुये करेंगे ।

सारे वर्णन का सच्चा हृदय गोसांईजी ने इस एकही चौपाई में भर दिया है—

वहइ न हाथ दहइ रिस छाती । भा कुठार कुंठित नृपघाती

(रा. पृ. १९२)

इससे यही निश्चित होता है कि परशुरामजी क्रोध के मारे जल रहे थे और उनकी बदला लेने की इच्छा बडी उग्र हो रही थी। परंतु कोई प्रत्यक्ष क्रिया कर दिखलाने में वे सर्वथैव असमर्थ थे ।

परशुरामजी के इस शक्ति-ह्रास का मर्म आक्षेपकों को प्रथम ढूंढ़ निकालना चाहिये। ऐसा न करके अप्रगल्भता का दोष लगाना स्वयंही परशुराम बन जाना है।

राम-लक्ष्मणजी ने कैसे भी ब्राम्हण का कभी अपमान नहीं किया; तो फिर परशुरामजी सरीखे ब्रम्हर्षिवर्य का अपमान करने की इच्छा क्या उनके चित्त को कभी स्पर्श कर सकती थी? तो क्या "हमरे कुल इन्ह पर न सुराई" उनका केवल वाग्जाल ही समझा जाय?

सभ्य और शिष्ट स्त्री-पुरुषों से भरे हुए धनुर्यज्ञमंडप में लढाईझगडे करके वहाँ की विछायतों को खून से तर कर देने पर बादमें परशुरामजी को होश में लाना क्या श्रेयस्कर और शोभास्पद हुआ होता? यदि नहीं, तो फिर परशुरामजीका गर्व-दमन करने के लिये सच्चा सरल मार्ग 'उष्णमुष्णेन शाम्यति' के सिवा विश्वास करने योग्य ओर कौनसा हो सकता था? विश्वास करने योग्य कहने का कारण यही है कि परशुरामजी का अवतार-कृत्य समाप्त हो चुका था और रामजी का प्रारंभ हुआ था, परशुरामजी को इस बातकी विस्मृति हुई थी, परंतु रामजी को उसकी पूर्ण स्मृति थी।

इन सब बातों का पूर्ण रीतिसे विचार करने पर ही गोसांईजी के वर्णन का सच्चा स्वरुप मालूम हो सकेगा। यह वर्णन हमारे मत से गोसांईजी की राजनीति-निपुणताका एक प्रशंसनीय उदाहरण

है। लक्ष्मणजी के आत्मविश्वास, निर्भीकता, विनोद और उपहास की उष्णतासे परशुरामजीके साहसी अभिमानका पारा क्रमशः, परंतु अमर्यादित कैसा चढ़ गया और श्रीरामजीके मुखसे 'विप्र बंस की अस प्रभुताई।' इस चौपाईमेंके केवल 'अस' (वक्षस्थल का भृगुपदचिन्ह उंगलीसे वताकर) इसी एक शब्दसे वह (पारा) एकदम कैसे झटसे नीचे उतर गया यह बतलाना ही कवि का ध्येय था। इसी कारण उन्हें यहां पर विशेष प्रखर योजना करनी पड़ी। क्या ऐसी भी योजना अश्लील कही जा सकती है।

अयोध्या-कांड

नवरस, दृष्टांत, रूपक, व्यवहार, स्वभावोक्ति, स्वभाव-निरीक्षण, पितृ-देव-गुरु-स्वामी-भक्ति इत्यादि गुणों से यह कांड प्रपूरित हुआ है। लोक-शिक्षा के पाठों से तो यह कांड ओतप्रोत भरा है—यही इसका विशेष है। स्वामीजी की अष्टपैलू विद्वता, व्यवहारज्ञता, अटल प्रेम, लोकशिक्षाचातुर्य इत्यादि गुणों के प्रामाण्य के लिये यह एक ही अलम् होगा। रामचरितमानस का सचा सच्चा आत्मा मानों यही कांड है।

इस कांड में स्वामीजी केवल 'क्वचिदन्यतोऽपि' पर ही निर्भर नहीं रहे, किंतु इसमें प्रायः उनकी स्वयंस्फूर्ति ही

विशेषता से दिखाई देती है। अतएव इस कांड की समालोचना यदि मनसोक्त की जाय तो सारी रामचरितमानस से भी वह बड़ी हो जाने का आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह कांड स्वामीजी के कथनानुसार 'अर्थ अमित अति आखर थोरे' ऐसा ही हुआ है। अतएव इस कांड की समालोचना हमारी इच्छा के अनुसार न होकर निरुपाय से बहुतही संक्षिप्त होगी।

(१) मंगलाचरण—(पृ. २४४)

श्रीगुरुचरनसरोजरज निज मन मुकुर सुधारि।
बरनउं रघुबर-बिमल-जसु जो दायकु फल चारि॥

इस दोहे में का 'रघुबर' शब्द बहुत ही समर्म दिखता है। उसमें रामजी तथा भरतजी इन दोनों का एकसमान अंतर्भाव होता है। अनुमान होता है कि यह शब्दप्रयोग दोह में सहेतुक किया गया है, क्योंकि इस कांड के पूर्वार्ध में जितना रामजी का उत्कर्ष दिखलाया है उतना ही उत्तरार्ध में भरतजी का है।

(२) सरस्वती-आवाहन—(पृ. २५२)

'सारद बोलि' इस चौपाई से दोहा १२ के अन्ततक, अध्यात्म रामायण के 'एतस्मिन्नतरे देवा देवीं वाणीमचोदयन्। गच्छ देवि भुवो लोकमयोध्यायां प्रयत्नतः।' (अयो. कां. स २ श्लोक ४४) इस संक्षिप्त श्लोक का विस्तार गोसांईजी ने बड़ी खूबी से किया है। यह प्रकरण वाल्मीकि में नहीं है।

(३) मंथरा-कैकेई-संवाद—(पृ २५२-२५९)

यह संवाद कवि के व्यवहार-निरीक्षण का एक अद्भुत उदाहरण है। इस संवाद का तात्पर्य 'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीचमते चतराई' इस तरह स्वयं कवि ने ही निकाला है।

इस संवाद में की मंथरा ठीक वैसी ही कुटिल स्त्री है जिसका वर्णन नीचे के श्लोक में किया है:—

'मुखंपद्म दलाकारं वाचश्चामृतशीतलाः।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥'

अध्यात्म अथवा वाल्मीकि की मंथरा में इतनी मार्मिकता नहीं है। गोसांईजी को एक 'घरफोरी' यानी दूसरे के घर को चकना-चूर करडालनेवाली मंथरा दिखलानी थी, और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसे ठीक वैसी ही दिखलाई भी है। उसकी मुद्रा, भाषण-शैली, तर्क आदि सभी उत्तरोत्तर कैसे बढ़ते गये, यह देखने योग्य है।

केवल एक कैकई को गोसांईजी ने बिलकुल अध्यात्म रामायण के ही अनुसार रखा है।

इन वर्णनों से कहना ही पड़ता है कि गोसांईजी की चरित्राङ्कन की शैली अपूर्व है।

ऐसी अपूर्वता आने का कारण विशेषतः उनकी तीक्ष्ण स्वभाव-निरीक्षण-शक्ति ही है।

(४) रामायणोत्पत्तिः --(रा. पृ. २५४)

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय विसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि॥

मय-सभामें दुर्योधन की फजीहत देखकर द्रौपदी हँस पडी थी। इस हँसने का परिणाम भारतीय युद्ध और कौरवों का नाश हुआ। अर्थात् द्रौपदी के हँसने पर सारा महाभारत निर्माण हुआ। यही कल्पना लेकर गोसांईजीने कैकेई को हँसाया और उसपर सारी रामायण का निर्माण किया। 'योजकस्तत्र दुर्लभः' कहा है सो व्यर्थ नहीं।

(५) दशरथजीका स्त्रैणत्व—(रा. पृ. २६०)

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयवस अगहुड परइ न पाऊ
सुरपति वसइ बांहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके
सो सुनि तियरिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बडाई

इस वर्णन में दशरथजी को कैसी मर्यादा रखते हुए स्त्री-लंपट दर्शाया यह देखने योग्य है।

(६) दशरथ-कैकेई-संवाद—(रा. पृ. २६०-२६७)

यह संवाद कवि-कौशल्य का एक अपूर्व नमूना है। गोसांईजी को इस संवाद में जिस प्रकारके दशरथजी और कैकेई दिखलानी थी उसे अपने ही शब्दों में उन्होंने इस प्रकार प्रगट किया है—

' भूप प्रीति कैकयि निठुराई। उभय अवधि.......

उनका यह प्रयत्न जैसा चाहिये वैसाही अक्षरशः सफल हुआ है । अभी तक कैकेई के समान हृदयवाला मनुष्य हमें कोई भी मिला नहीं जो यह संवाद सुनकर द्रवीभूत न हुआ ।

कैकेई के मुखसे हृदयभेदी और अपमानकारक शब्द निकलने पर भी दशरथजीकी जिव्हाको कविने कुत्सित शब्दों का स्पर्श तक न होने दिया । इसेही हम दशरथजी के चारित्रकी और कविकी लोकशिक्षा की विशेषता समझते हैं । इस संवादका अन्त कैसा हृदयभेदी हुआ है वह इस चौपाई से ध्यान में आ सकेगाः—

फिरि पछितैहसि अंत अभागी । मारसि गाइ नाहरु लागी ।

(७) राम-कैकेई-संवाद—(रा. पृ. २६८)

गोसांईजीने रामजीसे बिलकुल ही व्यावहारिक परंतु पूर्ण शिक्षा-प्रचुर भाषण करवाया है । यह भाषण उनके कथनानुसार सचमुचही 'वाग विभूषण' (वाग्देवीका सौभाग्य तिलक) ही हुआ है ।

इसमें सन्देह नहीं कि जिस साहित्य में ऐसे उदात्त, तात्त्विक और प्रेममय भाषण नहीं वह यथार्थ में सौभाग्य-हीन ही है ।

(८) कैकयी शांत्यर्थ स्त्रीजन की सिखाई—(स पृ० २७५)

यदि यह कल्पना स्वयं कवि की ही हो, तो इसमें उनकी निरीक्षणचतुरता निःसंशय ओतप्रोत भरी दिखलाई पडती है ।

क्या यह स्त्रीशिक्षा का उच्च प्रकार नहीं कहा जा सकता ?

(९) कौशल्या देवी का रामवनप्रेपण—(रा. पृ. २७६-२७९)

कौशल्या देवी के चारित्र का परिचय हम आगे चलकर देनेवाले हैं। यहां इतना ही दिखलाना है कि अमर्याद पुत्र-प्रेम और अखंड पतिव्रत को पूरा पूरा अपने आधीन रखकर भी, जिस देवी ने पुत्र-प्रेम से बढ़कर पति-प्रेम को ही समझा उसीको, गोसांईजी के व्याख्यान के आशय के अनुसार, राम-माता कहना योग्य होगा। यही उनके स्त्रीशिक्षा-तत्त्व का सच्चा रहस्य है। ऐसा करुण-रस-वर्णन अध्यात्म अथवा वाल्मीकि रामायण में नहीं। करुण-रस में हृदय के इतना डूब जाने पर भी कवि की लेखनी में इसप्रकार वर्णन करने की स्थिरता रह सकी यही आश्चर्य है। परंतु उनकी 'सो महेस मोहिंपर अनुकूला। करहिं कथा' इस चौपाई को देखकर आश्चर्य का यथार्थ में कोई कारण नहीं रह सकता।

वाल्मीकिजी की 'ममास्ति मातृता तात न जह्यात् पुत्रता त्वया' इस हृदयद्रावक उक्ति का हृदय 'मानि मातुकर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ' इस उक्ति में बहुत ही मार्मिकता से उतारा गया है। हमारे विचार से इस उक्ति से यह ध्वनि निकलती है कि रामजी को वन जाने की आज्ञा दे देने के कारण कौशिल्या देवी के मन में आया कि 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' इसमें के मातृहृदय का पूरा

पूरा नाश उन्हींने ही कर दिया इसमें सन्देह नहीं। परंतु इस बात पर लक्ष न करके रामजीने यही विचार करना चाहिये कि उनकी माता में माता का हृदय बिलकुल ही नहीं है, तौ भी माता का नाता अटल है। इसलिये उस नाते पर ध्यान देकर उन्होंने अपनी माता को न भूलना चाहिये।

इस कौशल्या विलाप का अन्त गोसांईजी ने 'बहु विधि बिलपि चरन लपटानी' इस पद से किया है। 'चरन लपटानी' से ऐसी ध्वनि निकालते हैं कि कौशिल्या देवी को रामजी के ईश्वरत्व की पहिचान थी। हमारे मत से ऐसा समझने में उसके करुणरस की सरसता बहुत ही घट जाती है। पुत्रवात्सल्य का भाव सम्पूर्ण भाषण में ओतप्रोत भरा हुआ है। उसमें ईश्वरत्व की भावना की कहीं जरा भी छटा नहीं। फिर ऐसी ध्वनि निकालकर रसलोप करने में क्या अर्थ?

'ते तुम्ह मातु कहहुं बन जाऊं। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊं' इससे कौशल्या देवी का यह भाव स्पष्ट दिखलाई देता है कि राम-वन-गमन सुनते ही मरना भला था, पर वैसा नहीं हुआ। इस कारण खिन्न होकर वे अपने पुत्र-प्रेम से लज्जित हुई। उन्होंने सोचा कि उनका यह प्रेम सच्चा पुत्र-प्रेम ही नहीं। केवल इसी भावना से 'मानि मातु के नात बलि' इ० उद्गार उन्होंने निकाले, और स्वयं को 'परम अभागिनि' समझा। इसप्रकार राममाता होने के लिये स्वयं सर्वथैव ही अयोग्य समझकर तुरंत ही समक्ष खड़ी हुई राममूर्ति की उत्कृष्टता और अपनी निकृष्टता के

विचारों में वे डूब गई, और मा बेटे का रिश्ता बिलकुल भूल गई। इस स्थिति में कौशल्या देवी को कुछ भी भान न रहने के कारण रामचन्द्रजी को अपने हृदय से न लिपटाते हुई वह स्वयं ही उनके चरणों को लिपट पड़ी। अतएव 'चरन लिपटानी' ये शब्द नमनार्थक न होकर वे कौशल्या देवी की परम पश्चाताप की अहेतुक क्रिया दर्शाते हैं।

(१०) कौशल्या-राम-सीता-संवाद—(पृ. २७९-२८६)

इस संवाद में प्रत्येक पात्र अपनी अपनी ओर से अपना अपना मत जोरशोर से आस्थापूर्वक स्थापित कर रहा है। प्रत्येक का भाषण पढ़ने से भासित होता है कि वही योग्य है। इसमें तो शंका नहीं कि सबसे आकर्षक और चारित्र्ययुक्त भाषण स्थूल मान से सीता देवी का ही जान पडता है। परंतु गोसांईजी का जीवन-सर्वस्व केवल एक लोकशिक्षा ही होने के कारण सीतादेवी की ओर भी उन्हें सूक्ष्म दृष्टि से देखना पड़ा। इसके पश्चात् के विचार सीतादेवी के पात्र-परिचय में दिखाई देवेंगे।

(११) रामलक्ष्मण-संवाद—(पृ. २८६-२८९)

इस संवाद में रामजी और लक्ष्मणजी अपने अपने पक्षका समर्थन वकीलों की नाईं वड़े जोरोंसे कर रहे हैं। ऊपर ऊपर देखनेवालों को लक्ष्मणजी का ही पक्ष समर्थित दिखाता है; परंतु यह स्थूल दृष्टि है। सूक्ष्म विचार लक्ष्मणजी के पात्रपरिचय में मिलेगा।

(११) लक्ष्मण-सुमित्रा-संवाद—(पृ. २८८-२८९)

कविकला और लोकशिक्षा की दृष्टि से यह संवाद रामायण के सभी संवादों का तिलक है। तुलनात्मक दृष्टि से इस संवादका और राम-कौसल्या-संवादका विचार करनेपर कौसल्या देवी की अपेक्षा भी सुमित्रा देवी रामप्रेम के विषय में अधिक जाज्वल्य नजर आती हैं। सुमित्रा देवी ने लक्ष्मणविषयक पुत्र-प्रेम को हृदय से नितांत निकालकर अपना पूरा पूरा हृदय रामचरणों में निविष्ट कर दिया। हमारे मत से सारी रामायण में इतने प्रखर रामप्रेम का स्त्रीपात्र और दूसरा नहीं है। कहना पडता है कि स्त्रीशिक्षाविषयक अपने सब तत्त्व स्वामीजी ने सुमित्रा देवी के चरणों में समर्पित किये हैं।

इस संवाद का सौंदर्य इतना अधिक है कि उसका यहांपर दर्शाया जाना असंभव है। अतएव यहांपर उसके विचार की केवल रूपरेषा ही दिखलाई जावेगी।

वाल्मीकि रामायण में 'रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्' कहा गया है; परंतु कवि ने वह क्रम बदल कर यहां 'तुम्हार मात वैदेही। पिता राम' रख दिया है। हमारा मत है कि यही इस संवाद की मुख्य कुंजी है।

लक्ष्मणजी को 'मांगहु विदा मातु सन जाई' ऐसी रामाज्ञा थी। तदनुसार लक्ष्मणजी आकर सुमित्रा देवी को 'लषन कही सब कथा विसेखी'। सब हाल सुन लेने पर

सुमित्रा देवी को आदि से अंततक लक्ष्मणजी की जो घोर गलतियां नजर आईं वे ऐसी हैं:—

(१) लक्ष्मणजी को यही नहीं समझा कि उनकी माता कौन थी।

(२) रामजी को वैसे ही छोडकर सुमित्रा देवी की भेंट के लिये आना लक्ष्मणजी को अनुचित था।

(३) लक्ष्मणजी को परमार्थतत्त्वका अज्ञान था।

पहिली गलती के कारण सुमित्रा देवी को खेद हुआ; दूसरी के कारण उनको क्रोध आया, और इन मनोविकारों के झटपट में वे आवेश से एकदम इसप्रकार बोल उठीं—

तात तुम्हार मात वैदेही। पिता राम सब भांति सनेही
अवध तहां जहं राम निवासू। तहां दिवस जहं भानु प्रकासू
जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं

परंतु उसी क्षण उन्हें लक्ष्मणजी के अज्ञान पर दया आई और उन्होंने शुद्ध उपासना के मूल तत्त्व का लक्ष्मणजी को इस प्रकार उपदेश किया:—

गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइय सकल प्राण की नाईं
राम प्राणप्रिय जीवन जीके। स्वारथ रहित सखा सबहीके
पूजनीय प्रिय परम जहांते। मानहिं सकल राम के नाते
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू

इसके पश्चात् उन्होंने लक्ष्मणजी को बड़े प्यार से अपनाकर मनाया और रामजी की सेवा के विषय में उपदेश दिया जिसका सार यह है:—

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भगत जासु सुत होई
न तरु बांझ भलि वादि बिआनी। राम विमुख सुततें हितहानी
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं
तुम्ह कहं बन सब भांति सुपासू। संग पितु मातु राम सिय जासू
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू

स्वामीजी की सुमित्रा देवी में विशेषता से देखने योग्य बात यह है कि एक क्षणभर के लिये भी पुत्रप्रेम की छाया तक का स्पर्श उन्होंने अपने चित्तको न होने दिया। इसी कारण विदा होते समय लक्ष्मणजी को उन्होंने अपने हृदय से लगाया तक नहीं।

माता का वह उत्तेजित उपदेश सुनकर (और माता के उपकार जानकर) लक्ष्मणजी सुमित्रा देवी के चरणों पर गिरे और वैसे ही वे 'चले तुरत संकित हृदय'। ऐसा क्यों ? उन्हें यही शंका हुई होगी कि माता सुमित्रा के सन्निध अधिक समय व्यतीत हो जाने के कारण कदाचित् रामचन्द्रजी निकल गये होंगे, और यदि ऐसा हुआ हो तो उनके पक्ष में वह बडा ही हानिकारक होगा। क्योंकि इधर माता सुमित्रा देवी पुनश्च अधिक दुश्चित्त हो जावेगी, और उधर सीतारामजी के मन में कदाचित् कुछ शंका हो जावेगी।

धन्य माता, और धन्य पुत्र ! दोनों सच्चे शूरवीर !

(१३) गुह-राम-संवाद---(पृ. ३०२)

क्षालयामि तव पादपंकजम् । नाथ दारुदृषदोः किमंतरं
मानुषीकरणचूर्णमस्तिते । पादयोरिति कथा प्रथीयसी
पादांवुजं ते विमलं हि कृत्वा । पश्चात्परं तीरमहं नयामि
नोचेत्तरी सद्युवती मलेन । स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुंबहानिः

(अ. रा. वाल कां. स ६ श्लो. ३, ४)

मल्लाह की यह उपरि-निर्दिष्ट उक्ति उस समय की है जब रामजी मिथिला जा रहे थे । गोसांईजी ने उसको यहां गुह के मुखसे निकलवाया है । उसमें उन्होंने और भी अपनी ओर से कुछ विशेषता मिलाकर भाषण में अप्रतिम रस उत्पन्न किया । यहां कवित्व और विनोदी प्रेम का अत्यन्त मोहक मिश्रण हुआ है । इसमें सन्देह नहीं कि 'चितइ जानकी लपन तन' की ध्वनि भी अप्रतिम हुई है । 'पद नख निरखि' इ० चौपाई की स्वभावोक्ति भी वड़ी ही आकर्षक है ।

(१४) रामवनप्रवास-वर्णन---(पृ. ३०७-३१४)

अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में यह वर्णन इस कोटि का नहीं । इस वर्णन का प्रेम वहुत ही हृदयंगम और द्रावक हुआ है । हनु. ना. के---

पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छयमाना
कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति ।
स्मितविकसितगण्डव्रीडविभ्रांतनेत्रं
मुखमवनमयंती स्पष्टमाचष्ट सीता ॥ (अंक २ श्लो. १६)

इस श्लोक की किंचित् छटा ' बहुरि बदन विधु ' इत्यादि वर्णन में आई है, परंतु यथार्थ में उसमें कवि की स्वयंकल्पना की ही प्रतिभा अधिकता से है।

(१५) प्रयागवर्णन—(पृ. ३०५)

यह रूपक बहुत ही उत्तम हुआ है। उसकी राज्यविषयक कल्पना में भी नवीनता है।

(१६) वाल्मीकि-राम-संवाद—(पृ. ३१५-३१८)

यह संवाद अध्यात्म रामायण के वर्णन के ही समान है, परंतु इसमें मधुरता विशेष है। इस संवाद में उपासना का निरूपण बड़ा ही सरल और सुगम है। इसी कारण इसमें मधुरता विशेष है।

(१७) रामजी का चित्रकूट-निवास—(रा. ३१८-३२३)

इस प्रकरण में विविध विषय हैं; उनमें से वन्य जनों का रामजी से अकृतिम बर्ताव और राम, लक्ष्मण, सीता के परस्पर व्यवहार के वर्णन अप्रतिम तथा हृद्विकासी हुए हैं। अध्यात्म और वाल्मीकि-रामायण में इनका नाम-निशान तक नहीं। हमें यह कवि की स्वयं-कल्पना ही दिखाई देती है।

(१८) सुमंतजी का मार्ग में विलाप—(रा. पृ. ३२३-३२५)

यह भाग बड़ाही हृदयवेधी है। यहां का करुणरस सारी रामायण में अन्यत्र नहीं पाया जाता। इसे पढ़कर जिसका हृदय

न द्रवे उसे हम ' सवै मुक्तोऽथवा पशुः ' ही कहेंगे । हम समझते हैं कि भवभूति को भी इस करुणरस का गौरव करना पड़ता ।

इस विलाप-वर्णन में दो दृष्टांत आश्चर्यजनक से दिखाई देते हैं। वे ये हैं—

(१) दो०–विप्र विवेकी वेदविद संमत साधु सुजाति ।
जिमि धोके मदपान कर सचिव सोच तेहि भांति ॥

(२) चौ०–जिमि कुलीन तिय साधु सयानी । पति देवता करम मन-बानी
रहइ करमबस परिहरि नाहू । सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू

' कुलीन तिय ' इ० वर्णन द्वारा चाहे अपनी पत्नी की कीर्ति अजरामर करने की दृष्टि से हो, अथवा अपने पश्चात्ताप के कारण हो, कवि ने स्वपत्नी का चरित्र-चित्र खींचा है ऐसा कह सकते हैं । परंतु दोहे के दृष्टांत के विषय में अबतक हमारा कुछ भी समाधान नहीं हुआ है ।

(१९) लक्ष्मणजी की कटूक्ति—(पृ. ३२९)

वाल्मीकिजी कहते हैं कि स्त्रीवशता के कारण रामजी को वनवास देनेवाले दशरथजी को अपना बाप ही नहीं समझते ऐसा लक्ष्मणजी बोल उठे । यह भाषण विना क्रोधी, बेलगाम और गुरुजन-निंदक के अतिरिक्त किसी भी पुत्र से नहीं हो सकता । पुत्र के द्वारा पिता की ऐसी अवहेलना लोकशिक्षा के लिये केवल निरुपयोगी ही नहीं, किंतु अतीव विघातक है । यह समझकर मालूम होता है कि ' लषन कहेउ कछु वचन कठोरा ' इतना ही कहकर स्वामीजी ने उस अतिप्रसंग को बिलकुल ही टाल दिया ।

(२०) सुमंतजी का पात्रपरिचय—(पृ. ३२६-३३०)

सुमंत्र का पात्र जैसे वाल्मीकि आदि रामायणों में है वैसा ही स्वामीजी ने रखा है । हमारे मत से यह पात्र मूल ग्रंथों में ही बहुत विसंगत दिखलाया गया है । सुमंत्रजी राजा दशरथ के प्रधान मंत्री होकर भी वे ऐसी अक्षम्य गलतियां करते हैं यह बड़ा आश्चर्यजनक है । एक तो दशरथजी की आज्ञानुसार उन्हें उनको (दशरथजी को) चित्रकूट पर रामजी के सन्निध पहुंचाना चाहिये था । परंतु वैसा उन्होंने नहीं किया; यही उनकी पहिली बड़ी भारी गलती थी । दूसरे, उन्होंने अपने उपदेश से राजा दशरथ को समझाने का साहस किया । वह भी व्यर्थ था, क्योंकि स्वयं ही दुःख से रोनेवाला दूसरे को न रोने का उपदेश दे यह विरोध अक्षम्य है । तीसरे, उनके सभी व्यवहार प्रसंगावधान और राजनीतिज्ञता से खाली रहे हैं । 'न्हाइ रहे जलपान करि', 'वट छीरु मंगावा । जटा मुकुट...........बनावा ' इ० बातें क्या दशरथजी को ऐसे समय में कहने लायक थीं ? सब संदेसा और हकीकत कहने पर कम से कम उन्हें निजका तो भी संयमन करना था, पर वह भी उनसे न हो सका । अन्त में अपने भाषण का पर्यवसान उन्होंने ' जियत फिरेउं लेइ राम संदेशू ' ऐसा शोकपर्यवसायी किया । इसके परिणाम में ' सचिव वचन सुनतहि नरनाहू । परेउ धरनि उर दारुन दाहू ' इस प्रकार दशरथजी की मृत्युवेदना असह्य हो गई, और वे तत्काल ही मरणोन्मुख हुए । क्या यह प्रधान मंत्रित्व कहलाया जायगा ?

स्वामीजी को ऐसा पात्र कभी भी पसंद न आता, परंतु रामायणीय कथा के अनुसार उन्हें यहां दशरथजी की ही समाप्ति करनी थी। इसी कारण पूर्वपीठिका के सुमंतजी की चरित्रचेष्टा को पसंद किये विना उन्हें गत्यंतर न रहा।

(२१) दशरथनिधन के समय कौशल्या देवीका भाषण—(पृ. ३३०)

इसके संबंध में हमारे विचार पात्रपरिचय में मिलेंगे।

(२२) भरतजी की अयोध्या लौटने की तैयारी—(पृ. ३३०)

वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि दुःस्वप्न होने के कारण भरतजी उद्विग्न हुये और उन्हें गायनवादनादिक अच्छे न लगे। तुरंत ही दूतों के साथ अयोध्या को वे वापस आ गये। अध्यात्म रामायण में तो इतना भी वर्णन नहीं है।

स्वामीजी ने लिखा है कि भरतजी को दुःस्वप्न हुए जिनके शांत्यर्थ शिवाभिषेक, ब्राम्हणभोजन आदि करके कौटुंबीय सब मंडली की कुशलता के लिये उन्होंने देवताओं की प्रार्थना की, और दूतों द्वारा गुरुजी की आज्ञा सुनते ही गणपतिस्मरणपूर्वक वे ननिहाल से निकल पड़े।

यह वर्णन केवल स्वयंकल्पित है। इससे सहज ही दिख पड़ेगा कि स्वामीजी स्वभावोक्ति और व्यवहारशिक्षा की ओर कैसी सूक्ष्मता से ध्यान रखते थे।

(२३) मंथराताडन—(पृ. ३३७)

मंथरा का शत्रुघ्नजी के द्वारा मार खाना वाल्मीकि रामायण में है, परंतु अध्यात्म में नहीं है ।

(२४) भरत-कौशल्या-भेट—(पृ. ३३८)

इसके विषय में पात्रपरिचय में लिखेंगे ।

(२५) भरतजी का शपथप्रमाण—(पृ. ३३९)

अध्यात्म के अनुसार वसिष्ठहत्या की शपथ लेकर ही भरतजी मुक्त हुए, परंतु वाल्मीकि रामायण में उन्होंने अनेक प्रकार की शपथें ली हैं । कुछ उनमें से चुनकर स्वामीजी ने उनमें अपनी ओर से भी मिला दी हैं—

> जे नहिं साधु संग अनुरागे । परमारथ पथ विमुख अभागे
> जे न भजहिं हरि नर तन पाई । जिनहिं न हरिहर सुयश सुहाई
> तजि श्रुति पंथ वाम पथ चलहीं । वंचक विरचि वेष जग छलहीं
> तिन्हकी गति शंकर मोहिं देऊ । जननी जो यह जानौं भेऊ

जान पड़ता है कि इन चोपाइयों का शपथवर्णन गोसांईजी ने तत्कालीन पातकों की स्थिति देखकर किया है ।

(२६) पति-सहगमन—(रा. पृ. ३४१)

वाल्मीकि और अध्यात्म-रामायण में दशरथजी के साथ उनकी स्त्रियों के सहगमन की इच्छा, उसपर भरतजी का निषेध और केवल रामदर्शन की इच्छा से ही उनके वापस फिरने के वर्णन नहीं हैं । अतएव इसमें सन्देह नहीं कि ये सब वर्णन कविकल्पना से ही उत्पन्न हुए हैं ।

स्त्रियों के सहगमन-निवारण के वर्णन से कह सकते हैं कि उनकी सहगमनेच्छा और तैयारी को प्रथम दर्शाकर पश्चात् केवल राम-दर्शन के लिये ही उनके वापस फिरने की कल्पना बडी ही प्रौढ़ और गंभीर है।

पात्रों के आचरण में पूर्वापर विरोध न होने देने के विषय में गोसांईजी कैसे सावधान थे—यह उपरिनिर्दिष्ट वर्णन से सहज ही ध्यान में आवेगा। यह उत्कृष्ट कवि का लक्षण कहलाता है।

(२७) वसिष्ठजी का भरतजी से भाषण—(रा. पृ. ३४१-३४५)

इस भाषण की सजावट बडी ही मोहक है। इसकी कारण-परंपरा जितनी सरल और सादी है, उतनी ही वह परिणामकारक भी है। इस भाषणको सुनकर सभी सभासदोंको वह 'गुरु आयसु' गुरुजी का आज्ञापत्र सा ही प्रतीत हुआ। पर यहां प्रश्न तो यह है कि क्या यह भाषण आज्ञात्मक हो सकेगा।

यदि यह भाषण आज्ञात्मक होता तो क्या भरतजी उसका विरोध अपने भाषण में कर सकते ? करते ही, तो क्या वसिष्ठजी ऐसा अपमान सह लेते ? जो सहन न कर सकते तो क्या उसका परिणाम भरतजी को भुगतना न पड़ता। इन सब विचारों से यह कहने में शंका ही होती है कि भाषण आज्ञात्मक था।

इसके अतिरिक्त, यदि वसिष्ठजी भरतजीको अपनी आज्ञाका भंग करनेवाला समझते, तो वे स्वयं भरतजी के साथ वन न गये होते और रामजी के सामने चित्रकूट पर भरतजी की प्रशंसा भी न करते।

इन सब कारणों से हमें जान पड़ता है कि वसिष्ठजी का भाषण केवल लोकरंजनार्थ था। यथार्थ में उनको भरतजी की परीक्षा ही लेनी थी, और देखना था कि वे कैकेई के पक्ष में शामिल तो नहीं हैं; जो शामिल होंगे तो वे उनके (वसिष्ठजी के) रसभरित भाषण का आधार लेकर राज्य करेंगे, और यदि ऐसा न होगा तो कम से कम उनके आगे के विचार तो उनके मुखसे बाहर आही जायेंगे।

इस तरह से हम इस भाषण का दो अर्थ वाला प्रयोजन समझते हैं और वसिष्ठजी को सचे सचे राजनीतिनिपुण समझते हैं।

(२८) भरतजी का प्रत्युत्तर—(रा॰ पृ॰ २४६-३४९)

भरतजी के भाषण के प्रारंभ, मध्य और समाप्ति कैसी चतुराई से भरे हैं यह ध्यान में आते ही समझ पड़ जाता है कि गोसांईजी किस दर्जे के व्यवहारनिपुण थे।

भरतजी के भाषण का मुख्य इंगित यह है:—

'यहिते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काज'

इस प्रश्न से उन्होंने सभी को उलझन में डाल दिया और सभी की बुद्धि को कुंठित कर दिया। औरों की तो क्या बल्कि वसिष्ठजी को भी इस पेंच भरी उलझन से निकलने की न सूझी, इसी कारण वे मौन साध रहे। इस प्रश्नात्मक भाषण पर किसी की भी बुद्धि न चल सकने के कारण सभी को चुप होकर भरतजी का ही

आसरा ताकना पड़ा। अंत में इन सब का निर्णय भरतजी ने स्वयं ही इस प्रकार किया:—

जाउं राम पहिं आयसु देहू। एकहि आंक मोर हित एहू
मोहि नृप करि आपन भल चहहू। सोउ सनेह जड़तावस कहहू

इतना कहते ही विचारणीय प्रश्न का पक्ष एकदम उलट गया, और वहां के सभी उपस्थित सभासदों पर बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी। यदि किसी ने जरा भी विरोध किया होता तो वह तुरंत ही कैकेयी के पक्ष में शामिल समझा जाता। भरतजी कैसे उच्च श्रेणी के राजनयनिपुण थे यह अब देख लीजिये।

इसको कहते हैं सेर को सवासेर।

(२२) गुहका अपने सैनिकों को प्रोत्साहन—(पृ. ३५२)

समर मरन पुनि सुर सरि तीरा। रामकाज छन भंगु शरीरा
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग अस पाइय मीचू
स्वामिकाज करिहउं रन रारी। जस धवलिहउं भुवन दस चारी
तजउं प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूं हाथ मुद मोदक मोरे
साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महं जासु न रेखा
जाय जियत जग सो महिभारू। जननी-यौवन-विटप-कुठारू

जान पड़ता है कि इसमें भर्तृहरि के वैराग्यशतक के निम्नगत श्लोक की परमार्थिक कल्पना की छटा ली गई है और अपनी कल्पना से कवि ने कुछ मिश्रण किया है—

'न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।

× × × ×

मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठाराः वयं ॥

यह वर्णन अत्यंत रामप्रेमपुष्ट और वीररसोद्दीपक हुआ है। स्वयंसैनिक तथा देश के अगुआ मंडली (किंबहुना सभी हिंदी जनता) इस वर्णन के विषय की उपयुक्तता का विचार कर सकते हैं।

(३०) गुह को शकुन—(प. ३५४)

'इतना कहत छींक भइ बायें। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाये'

इसमें स्वभावनिरीक्षण श्रेष्ट कोटि का है। स्वामीजी का प्रवेश ऐसे समाजोंमें भी था यह इस वर्णन से दिखता है। लोकशिक्षा सचमुच में ऐसे ही समाजों में प्रथम होनी चाहिये। उससे दूर रहकर वह कभी भी हो न सकेगी।

(३१) गोसांईजी का प्रेमतरंग—(पृ. ३५५)

चौ०—भेंटत भरत ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहि प्रेम के रीती
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहिं तेहि बरिसहि फूला
लोक वेद सब भांतिहि नीचा। जासु छांह छुइ लेइय सींचा
तेहि भरि अंक राम-लघु-भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पाप पुंज समुहाही
एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा
करम-नास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई
उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रम्ह समाना

दो॰—स्वपच सबर खस जनम जड़ पांवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥

चौ॰—नहि अचरज जुगजुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई

इस वर्णन का प्रेम प्रेक्षणीय है। प्रेमकी लहरों में गोसांईजी कैसे रंग जाते थे, यह दिखलाने वाले प्रसंगों में से यह भी एक प्रसंग है। गोसांईजी के धर्म संबंधि मत का निश्चय करने के लिये यह वर्णन हमारी समझ से वहुत ही उपयुक्त होगा।

(३२) भरतजी का भरद्वाजसत्कार—(रा. पृ. ३६१-३६६)

इस प्रसंग में का संपूर्ण भाग वड़ाही रमणीय है। उसमें भरद्वाजजी के मुख से भरतजी के विषय में जो प्रसंसा वचन निकले हैं उनकी रमणीयता 'यतो वाचो निवर्तंते' ऐसी ही है। यह कहना संभवतः आतिशयोक्ति मालूम हो, इसलिये हम भरद्वाज-जीके भाषण के बिलकुल अन्त की नीचे दी हुई चौपाइयों पर योग्य विचार करने की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं:—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं
सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन-राम-सिय दरसन पावा
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा
भरत धन्य तुम्ह जग जस जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ

इसमें देखिये कि भरतजी की स्तुति करते भरद्वाजजी को प्रेमसमाधि लग गई। फिर 'यतो वाचो निवर्तंते' कहने में कौनसी हानि है?

भरद्वाजजी के भाषण में कीर्तिचंद्र का रूपक बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। ' कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहं बस राम प्रेम मृग रूपा ' इस चौपाई में उस रूपक का हृदय है। भरतजी को चंद्र बनाकर रामजी को उसमें का मृग बना देने से रामकीर्ति गौण और भरतकीर्ति प्रमुख हुई। इस रूपक का भाव ऐसा दिख पड़ता है कि दशरथादिकों के यशचंद्र से श्रीरामजी भिन्न ही रह सकते थे। परंतु वे भरत-यशचंद्र से भिन्न रह नहीं सकते। इतना ही नहीं, किंतु वे उसमें इतने निमग्न हो गये हैं कि उनका अब बाहर आना ही संभव नहीं। फिर भी विशेषता यह है कि वे उसके सामने बिलकुल ही फीके हो गये हैं।

राम-भरद्वाज-संवाद की तुलना करनेपर जो सिद्धांत निलकते हैं वे बहुत ही बोधप्रद हैं। इसलिये उन्हें हम यहां देते हैं:—

(१) भरतजी को रामजी ने भक्ति का वर दिया। परंतु उन्हें रामजी स्वयं भक्ति सिखला न सके। वह सिखलाने वाले उनके गुरु भरतजी ही हुए।

(२) ईश्वर की कृपा यहीं तक समझना चाहिये कि उसके कारण गुरु और संतसे भेंट होती है। इसके बाद का कार्य उसके शक्तिके बाहर है। वह कार्य भक्ति है, और वह केवल संत और गुरू का ही कृपादान से मिल सकती है। ईश्वर उनके माध्यम के बिना स्वयं नहीं दे सकते।

(३) रामदर्शन की अपेक्षा संत-दर्शन ही श्रेष्ठ है । क्योंकि यह सिद्धांत है कि सत्संगके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती ।

इस संवाद में गोसांईजी ने यह वाक्य दिया है—' राम भगत अब अमिय अघाहू । कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू ।' यहां इस ' अब ' शब्द से तत्पूर्वकाल में भरतजी के प्रेमरूप अमृत का अभाव निदर्शित होता है । यह अभाव वाल्मीकि-रामायण में स्पष्ट ही दिख पडता है । इसलिये ' अब ' शब्द से हमें ऐसी ध्वनि निकलती हुई मालूम होती है कि वाल्मीकि ही तुलसीदास हुए और उन्होंने अपनी रामायण की भक्ति की न्यूनता को हटा दिया ।

(३३) रामजी और भरतजी की महिमा की तुलना—

(रा पृ. २६६)

दो०—किये जाहि छाया जलद सुखद बहइ बर बात ।
तस मग भयउ न राम कहं जस भा भरतहिं जात ॥

चौ०—जड़ चेतन मग जीव घनेरे । जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे
ते सब भये परम-पद-जोगू । भरत दरस मेटा भवरोगू
यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं । सुमिरत जिन्हहिं राम मन माहीं
बारेक राम कहत जग जेऊ । होत तरन तारन नर तेऊ
भरत राम प्रिय पुनि लघुभ्राता । कस न होइ मगु मंगलदाता
सिद्ध साधु मुनिवर अस कहही । भरतहिं निरखि हरष हिय लहही

इस वर्णन में रामजी और भरतजी के महात्मों की तुलना करके गोसांईजी ने भरतजी को ही श्रेष्ठत्व दिया । यह वर्णन बहुत ही मार्मिक है । इसमें रामजी की अपेक्षा संतों को ही श्रेष्ठ ठहराया ।

इस तुलनाका भाव ऐसा दिखता है कि जीवों को रामदर्शन परमपदके लिये पात्र बनाता है। परंतु उसकी संसार-यात्रा की समाप्ति हुए बिना उसके लिये परमपदप्राप्ति संभव नहीं है। परंतु संत-दर्शन (अथवा गुरु-दर्शन) जीवों के संसार की ही समाप्ति कराता है। अर्थात् संतकृपा ऐसी है कि उसके योग से संसार ही परमपद बन जाता है। गीता की भाषा में इसी को हम कह सकते हैं कि 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'। इसी आशय को श्रीमुकुंदराज महाराज ने अपनी 'परमामृत' में कहा है कि 'याचि देहीं याचि डोळां। भोगूं मुक्तीचा सोहळा' (अर्थ— इसी देह में (जन्म में) और इसी नेत्र से मुक्ति का आनंदोत्सव चखेंगे।)

(३४) देवताओं को गुरूपदेश—(रा. पृ. २६८)

इस वर्णन में भरतजी की योग्यता दिखाई गई है। वर्णन बड़ाही आल्हाद-कारक है।

'भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम राम जप जेही' यह इस वर्णन का प्राण है। 'अगुन अलेख अमान एक रस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस' यह उसका देह है। 'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा' यह उस देह का व्यवहार है। 'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुहारा' यह उसका हृदय है। और 'राम सदा सेवक रुचि राखी' यह उसके प्रिय विलास हैं।

(३५) भरत-प्रेम-प्रभाव—(रा. पृ. २६९)

जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुं चहुं पासा
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पखाना।'

इसमें कवि ने भरतजी के प्रेमका प्रभाव दिखाया है। इसको जो अतिशयोक्ति समझे उनके लिये कहा जा सकता है कि उन्हें भक्ति की कल्पना ही नहीं। कदाचित् कोई ऐसा भी कह सकेंगे कि उनके लिये कविने यह ग्रंथ ही निर्माण नहीं किया। पर हम तो यही कहेंगे कि उनकी प्रकृति के लिये भारतवर्ष की हवा ही अनुकूल नहीं।

(३६) सीतादेवी का स्वप्न—(रा. पृ. ३७२)

'उहां राम रजनी अवसेखा। जागे सीय सपन अस देखा
सहित समाज भरत जनु आये। नाथ वियोग ताप तन ताये
सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखी सासु आन अनुहारी

यह स्वप्न अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में नहीं है। वह कविकल्पना ही जान पड़ती है। लक्ष्मणजी के कोप की वह प्रस्तावनासी होनके कारण उसकी उपयुक्तता स्पष्ट ही दिखाती है। कवि के ऐसे स्वप्नों को कौन महत्व न देवेगा ?

(३७) लक्ष्मण-क्रोधाभिनिवेश—(पृ. ३७३-३७६)

यह वर्णन तो गासांईजी ने बड़ा ही आवेश-पूर्वक किया हुआ दिखता है। लक्ष्मणजी का स्वभाव इसमें अच्छी तौरसे निर्दिष्ट किया है। विकारवश हो जानेवाले स्वभाव के कारण, दूसरों को सारी जन्म की कमाई का, छोटासा भी कारण आ जानेपर, एक क्षणमें

अवहेलना हो जाती है। यह बात कविने 'भरत हमहिं उपचार न थोरा' इतने ही में बड़ी सुन्दरता से दिखलाई है। लक्ष्मणजी को ऐसे अपस्मारी बनने के पहिले बेचारे भरतजी उन्हें कैसे अच्छे दिखते थे, परंतु विकारवशता के एक ही झटके से वे ही भरतजी उन्हें कुछ के कुछ दिखाई देने लगे।

कविका यह स्वभाव-निरीक्षण बहुत ही मार्मिक हुआ है। अध्यात्म और वाल्मीकि में यह इतना सुंदर नहीं है।

(३८) आकाशवाणी—(रा. पृ. ३७७)

जग भये मगन गगन भइ बानी। लषन-बाहु-बल बिपुल बखानी
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननिहारा
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं

यह आकाशवाणी कवि के हृदयाकाश में ही प्रथम प्रगट हुई सी दिख पडती है, क्योंकि कहीं इधर उधर उसका नाम तक नहीं सुनाई देता। परंतु संविधानक की दृष्टि से वह कवि के सप्रभ कल्पना-चातुर्य की ही द्योतक है। कवि ने इसमें यह दिखलाया है कि लक्ष्मणजी की क्रोधाग्नि रामजी के शांतिपाठों से भी शांत न होती।

(३९) भरत-प्रेम-प्रभाव-वर्णन—(रा. पृ. ३७६३-३७८)

जिन्हें यह देखना हो कि गोसाईंजी के भरत कैसे प्रेममय हैं उन्हें यह वर्णन अवश्य ही मननपूर्वक पढ़ना चाहिये। इसमें

रामजी की भरत-प्रशंसा का और भरतजी की भक्ति का उत्तम उत्कर्ष दिखलाये जाने से भरतजी के भावी चित्रकूटचरित्र पर बहुत ही प्रकाश पडा है । बड़े खेद से कहना पडता है कि विस्तारभय के कारण यह वर्णन यहां नहीं दिया जा सकता ।

(४) राम-लक्ष्मण और सीताजी का वनचित्र—(रा. पृ. ३८०)

चौ०—तुलसी तरुवर विविध सुहाये । कहुं कहुं सिय कहुं लपन लगाये
बट छाया वेदिका बनाई । सिय निज-पानि-सरोज सुहाई

इसमें के लक्ष्मणजी और सीताजी को यहीं देख लीजिये । फिर इस प्रकार से ये कहीं भी देखने को न मिलेंगे ।

(४१) राम-भरत भेंट का पूर्वरंग—(रा. पृ ३८१)

सानुज सखा समेत मगन मन । विसरे हरष-सोक-सुख-दुख गन
पाहि नाथ कहि पाहि गोसांई । भूतल परे लकुट की नाई
बचन सप्रेम लखन पहिचाने । करत प्रणाम भरत जिय जाने
बंधु सनेह सरस एहि ओग । इत साहिब सेवा बरजोरा
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई । सुकवि लपनमन की गति भनई
रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू
कहत सप्रेम नाइ महि माथा । भरत प्रनाम करत रघुनाथा
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा । कहुं पट कहुं निषंग धनुतीरा

इन चौपाइयों का भाव बड़ा ही हृदयग्राही है । कुछ देर तक भ तजी जमीन पर वैसे ही पड़े रहे, तो भी रामजी ने जरा भी ' हूं या हां ' न किया । मानों उन्होंने भरतजी के ' पाहि नाथ,' ' पाहि गुसांई ' इस आकुलित पुकार को सुना ही नहीं । इस

समय वे केवल लक्ष्मणजी की स्थिति लक्षपूर्वक देख रहे थे। लक्ष्मणजी को रामजी की मर्यादा ने जकड़ डाला था। परंतु अंत में उनसे न रहा गया, और थोरी देर बाद ही रामजी को उन्हाने प्रणाम कर धरती पर पड़े हुए भरतजी को दिखलाया। इस तरह यह प्रसंग भरत भेंट का पूर्वरंग कहना चाहिये। इसके पश्चात् भरतजी से मिलने के लिये रामजी की व्याकुलता देखने योग्य है।

यहां पर यह प्रश्न होता है कि रामजीने उस समय भरतजी पर इतनी निष्ठुरता क्यों दिखलाई।

हमारे मत से वह भरतसंबंधि निष्ठुरता नहीं थी। लक्ष्मणजी की विकारवशता से निकले हुए पूर्व शब्दोंको उन्हें उन्हीं (लक्ष्मणजी) के मत्थे मंढ़ना था। इसलिये उन्होंने यह सब नाटक किया। भरतजी के संबंध की उनके कटूक्तियों की सचाई या झूठापन अजमाने के लिये उन्होंने लक्ष्मणजी को यह समय दिया। अंत में जिस समय वे पश्चात्ताप से हड़बड़ाकर रामजी के सामने 'कहत सप्रेम नाइ महि माथा' गिर पड़े, और अत्यंत दीनता से प्रार्थना करने लगे कि 'भरत प्रणाम करत रघुनाथा', उस समय ,उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुं पट कहुं निषंग धनु तीरा,' यानी प्रेमसे बिलकुल ही अधीर होजाने के कारण, कहीं वस्त्र कहीं धनुष और कहीं बाण छांडते छांडते रामजी बडेही संभ्रम से पहुँचे, और भरतजी को उठाकर मिले। स्वामीजीका भावनिरीक्षण और शिक्षा की पद्धति जो अवर्णनीय कहलाती उसीका यह वर्णन एक महत्वपूर्ण और मननीय उदाहरण है।

(४२) गुह-वसिष्ठ–भेंट—(पृ. ३६३)

' प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंडप्रणामू
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिषहि फूला
एहिसम निपट नीच कोउ नाहीं। बड वसिष्ठ सम को जग माहीं
दो०—जेहि लखि लषणहुं तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीता-पति-भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥

वशिष्ठजीके ही साथमें आनेके कारण यथार्थमें गुह को यहां के लिये भेंट करनेकी बिलकुल ही आवश्यकता न थी। तो फिर यह निष्प्रयोजन भेंट क्यों करवाई गई ?

पहिली भेंट में वसिष्ठजी गुहसे खडे खडे और दूरसे ही मिले थे। केवल भरतजीही उससे रथ के नीचे उतरकर बडे प्रेमसे लिपटकर मिले थे। पश्चात्, साथ ही साथ रहने के कारण गुहकी योग्यता उनके ध्यान में आही गई होगी। उसे इस समय रामजी के साथ आता हुआ देख और उसके प्रणाम का ढंग देख उनको पहिले भेंट की याद आ गई। और उनके हृदय का प्रेम अचानक वह निकल पडा। इसी कारण वे 'बरबस' मिले.—(यथार्थ में कहा जाय तो, वे स्वामीजी के द्वारा ' मिलाये गये ' ऐसा ही कहना ठीक होगा।)

धन्य है स्वामीजी की, कि वे वसिष्ठजी सरीखोंको भी अपनी लोकशिक्षा के योग्य बना लेने में जरा भी नहीं हिचकते।

स्वामीजी का धर्मविषयक मत निश्चित होने के लिये यह वर्णन भी हमारी समझ से सहायता करने योग्य है ।

(४३) भरतादिओं का वन्यजनों द्वारा आदर—(पृ. ३८६-३८७)

लोकशिक्षा का यह एक अमूल्य भाग है । हिंस्रपशु के तुल्य मानवों पर भी रामसदृश चारित्र्यवान् पुरुषों के दर्शन से कैसे उत्तम परिणाम होते हैं, इस बातका दिखलानेवाला यह भाग है । 'सत्संगाद्भवति हि साधुता खलानाम्' अथवा 'सठ सुधरहिं सत संगति पाई' यही इस भाग का तात्पर्य है । हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है कि चारित्र्यवान् पुरुषों की पहिचान होने के लिये ही ईश्वर ने यह हीन मानववर्ग उत्पन्न किया है ।

इस वर्णन में स्वभवोक्ति की पराकाष्ठा हुई है ।

(४४) भरत-वसिष्ठादिओं की सलाह—(पृ. ३८८-३९०)

इस प्रसंग को भरत-रामकी आगामी सलाह का पूर्वरंग समझना चाहिये । इसमें वसिष्ठजी भरतजी के रामप्रेम को कसौटी पर चढ़ा रहे हैं । वसिष्ठ-भरत-संवाद में (यानी अयोध्या के दरबार में) वसिष्ठजी ने अपनी राजनीतिज्ञता पूर्णरूप से दिखलाई थी । यहांपर वे परमार्थिक नीतिज्ञ बने हुए दिखाई देते हैं । परंतु पाहिले के ही समान यहां भी अंतमें उन्हें भरतजी के सामने हार मानकर झुक जाना पड़ा । परंतु देखने योग्य बात यह है कि उन्हें अपनी हार से जैसा आनंद हुआ वैसा, यदि वे स्वयं जीत भी जाते तो

कदापि न होता। यही नहीं, उन्हें उलटे और खेद ही होता। ईश्वर गुरुत्व दे तो वसिष्ठजी के सदृश ही दे। क्योंकि, देखिये, भरतजी के रामप्रेम की कसौटा लगाना चाहनेवाले वसिष्ठजी तुरन्त ही महानंद से बडी प्रेमोत्कंठा के साथ रामजी के आगे भरतजी के स्वयं ही वकील बन गये हैं। इसकी अपेक्षा गुरुत्व को असली शोभा देने वाला जो खुला दिल और औदार्य उनकी पराकाष्ठा इससे अब बढ़के क्यां हो सकेगी ? हमारी प्रशंसा की सत्यता जिन्हें देखना हो वे उसे नीचे की वसिष्ठशिष्टाई में खूब कसकर देख ले सकते हैं।

(४५) वसिष्ठशिष्टाई—(३९०-३९?)

कह मुनि राम सत्य तुम भाषा। भरत सनेह विचार न राखा
तेहितें कहउं बहोरी बहोरी। भरत भगति भइ मम मति भोरी
मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी

अपनी योगवासिष्ठ सुनाकर रामजीको अविकारी और अक्रिय ब्रह्म बनानेवाले वसिष्ठजी गोसांईजीकी दीक्षामें आ पडनेके कारण रामजीको कैसे सविकारी और सक्रिय पुरुषोत्तम बना रहे हैं, और अपने तत्वज्ञान की शुष्कताको किस प्रकार आर्द्रकर रहे हैं, यह यहांपर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। हमारा यह कथन ' सुनि आचरज करइ जनि कोई ' क्यों कि ' सतसंगति महिमा नहिं गोई। '

वसिष्ठजीकी वकालत का रामजीपर जो परिणाम हुआ वह उनके इस एकही वाक्यमें पूर्णतासे दिखाई देता है:—

भरत कहहिं सोइ किये भलाई। असकहि राम रहे अरगाई।

(४६) भरतजी का भाषण और उसपर रामजीका उत्तर-(पृ.३९१.३९४

किसी भी दृष्टिसे देखिये भरतजी के इस भाषण में को प्रायः सभी वातें विलकुल ही सामान्य है। परंतु केवल प्रेमके कारण उनमें अतिरिक्त जटिलता आई है। इस भाषणकी यही भारी विशेषता है।

जटिलता कहनेका कारण भरतजीके भाषण पर रामजीका उत्तर है। उसमें रामजीने भरतजीकी प्रशंसा केवल पराकाष्ठा को पहुंचा दी है। वहां संशय होता है कि भरतजीके भाषणमें दुर्ज्ञेय ऐसी गहनता वा असाधारणता न होते भी रामजीको भरतजीको 'भाट जिमि वरनी' ऐसे प्रकारकी प्रशंसा करनेका क्या प्रयोजन था? हमारे मत से भरतजीके भाषणका गहन भाग उनकी कृतज्ञता की भावना का है! विलकुल क्षुद्र कारणोंमें भी भव्य भाव देखना और हार्दिक कृतज्ञता मनाना यही उनके कृतज्ञताका सत्य स्वरूप है। ×

भरत और राम दोनोंके भी भाषण प्रत्यक्ष पढे विना हमारे उक्त विचारोंकी यथार्थता ध्यानमें न जँचेगी। पाठकोंको इन दोनों भाषणोंको पढने की सूचना हम खास तौर से देते है, इसका कारण ऐसा, कि ये भाषण अयोध्याकांड के आगामी भागकी नींव

× देखिये—

Fo me the meanest flower that blows
Gives thoughts that do often lie too deep for t ars.

Words-worth.

है । इन भाषणोंमें रामजी और भरतजीके परस्पर व्यवहारोंका अन्यो-न्यकृतज्ञतारूप जो मुख्य तत्व है वह समझ जाने पर उनके आगामी संपूर्ण व्यवहारोंके समझनेमें कठिनाई न पडेगी ।

(४७) भरतजीका दूसरा भाषणः—पृ. ३९५-३९७

भरतजीका जो मुख्य भाव उनके इस भाषणमें प्रतिबिंबित हुआ है वह यह है:—

चौ० - निज पन तजि राखेउ पन मोरा । छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब विधि सीतानाथ ।

भरतजी को कहीं भी देखिये उनकी विशेषता जो हार्दिक कृतज्ञता है वह उनके छायाके सदृश उनके साथही साथ दिखाई देगी । उनके सभी व्यवहार मृदु और मनोहर होनेका कारण उनकी केवल यह विशेषता ही है, और इसी एक विशेषता के बल वे, रामजीके कथनानुसार, त्रैलोक्यविजयी, त्रैलोक्यपावन और त्रैलोक्यगुरु हुए हैं ।

उपर्युक्त सूचनाका स्मरण रखते हुए अब भरतजी का भाषण पढ़िये और तत्काल ही देखिये कि भरतजी के प्रेमका पूर कैसा चढ़ावढ़ा फैलता जाता है ।

(४८) जनकप्रवेश—(पृ. ३०६-४०१)

जनकजी का चित्रकूटप्रवेश अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणों में नहीं है । उसके न रहने के कारण व्यवहार बहुत ही शून्य दिख पड़ता है । इस शून्यता की गोसांईजी को बड़ी क्षति

मालूम हुई, अतएव उन्होंने उनकी पूर्ति कर दी । फिर भी इस पूर्ति में देखने योग्य यह अधिकता है कि गोसांईजी के जनकजी अत्यंत व्यवहार चतुर हुए हैं । इस अधिकता को देख ऐसा ही कहना पड़ता है कि जनकजी ने जो गोसांईजी की दीक्षा ली उसका यह प्रभाव है ।

इस जनकप्रवेश के द्वारा अयोध्याकांड के अंत का भाग बहुतही पठनीय और मननीय हुआ है । इसका कारण स्वामीजी के जनकजी 'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञाना' अर्थात् भागवत के 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम् ।'-इस तत्वके समर्थक हैं । यदि वे वैसे न होते तो चित्रकूटशिखरका दर्शन होते ही 'करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं' ऐसी चेष्टा उनका देह कभी न दिखा सकता ।

जनकप्रवेश के पहिले स्थल, लोक, आदि का जो वर्णन है वह इस प्रवेश की मनोहरता बढ़ाने के सत्य में बहुतही सहायक हुआ है । परंतु उस वर्णन में जो स्वामीजी का अंतःकरण प्रतिबिंबित हुआ है वही असल में देखने योग्य है ।

(४९) राजमहिला-संमेलन—(पृ. ४०२-४०१)

स्त्रीसंमेलन का नाटकी नमूना कवि ने इस वर्णन द्वारा दिखलाया है । परंतु काव्य की दृष्टि से उसकी योग्यता बहुत भारी है । इस संमेलन का यहांपर प्रबंध न किया होता तो यहांतक कहने का अवसर आ जाता कि राजमहिलाओं ने चित्रकूट तक

जाने का व्यर्थ कष्ट क्यों उठाया। इस वर्णन को पढ़ते ही ध्यान में आ जावेगा कि लोकशिक्षा, लोकनिरीक्षण और कविकला की दृष्टि से इस बैठक का बड़ा भारी महत्व है। हम समझते हैं कि उसके महत्व के उद्घाटन की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसे पढ़ते समय ही प्रत्येक पात्रका भाव और स्वभाव एकदम नजर में आ जाते हैं। यही उस वर्णन की एक बडी विलक्षणता है।

(५) जनकजी और महिषी देवी सुनयना का रहस्य—

(प. ४०६-४०७)

स्वामीजी ने यह प्रवेश लिखकर चित्रकूट के जनकप्रवेश में मानों प्राण ही भर दिया। उसमें की सीतादेवी के प्रशंसा से पाठकोंका आत्मा एकाएक विकसित होकर फिर भरतजीके प्रशंसासे एकदम प्रशांत हो जाता है।

इस प्रवेश के पढ़ने से सहज ही कल्पना होती है कि यदि जनकजी रामदर्शन से विमुख रहते तो हमारे पाठकों को बडीही हानि पहुंचती। क्योंकि पाठकोंके लिये भरतजी के परमार्थिक तत्वों का निदर्शन करानेवाला, और रामजी की तुलना भरतजी से करके प्रत्येक की विशेषता दिखानेवाला, और भरतजी की स्वतंत्र योग्यता बतलानेवाला अधिकारसंपन्न शिक्षक जनकजी के अतिरिक्त कोई भी चित्रकूट की रंगभूमी पर उस समय उपस्थित नहीं था।

स्वामीजी के जनकजी के हम सब अत्यंत ऋणी हैं इसमें संदेह नहीं। परंतु इस विषय में यदि हम स्वामीजी को ही परम

कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देवेंगे तो भी उनके जनकजी हमको अनृणी कर देवेंगे ऐसी आशा है। इसका कारण यही है कि जबसे जनकजी स्वामीजी की दीक्षा में शरीक हो गये तबसे वे दोनों से अभिन्नभाव रहते हुए दिखाते हैं।

(५१) रामजी और वसिष्टजी का रहस्य—(पृ. ४०७)

यह भी उपरिनिर्दिष्ट एकान्त के समान ही उपकारी है; अंतर इतना ही है कि भरतजी के विषय में सब कुछ कहकर जनकजी ने लोगों पर प्रत्यक्ष उपकार किये, और वासिष्टजी ने अपने निज के ही ज्ञानको राम विषयक प्रेम जोड़कर लोगों पर अप्रत्यक्ष उपकार किये।

(५२) देव-शारदा-प्रवेश—(रा. पृ. ४०९)

अयोध्याकांड के आरंभ में ऐसा एक प्रवेश गया है। उस समय देवतागण शारदा देवीको रिझा सके। अब उन्हें यह आदतसी हो गई। इसीसे उन्होंने फिर से शारदा देवी का आवाहन किया। परंतु इस समय देवी ने देवताओं की आखों में अच्छा ही झन्नाटे-दार अंजन डाला और वह वहां से चली गई।

दिखता ही है कि शारदादेवी के मुखसे भरतजी के गुणानु-वाद का गायन करवाने में गोसाईंजी ही कारणीभूत हुए। जान पड़ता है कि उसके बदले में उनके उपकार मानकर उपकार चुकाने के लिये ही शारदा देवी गोसांईजी के जिव्हा पर आ बैठी। ऐसा न होता तो गोसांईजी की वाणी इतनी प्रभावशाली कैसी हुई होती?

(५३) आम दरबार—(रा. प. ४१०-४१७)

इस दरबार में प्रथम भरतजीका और बादमें रामजीका भापण मुख्य है। ये दोनों भापण सारी रामायण में सर्वोच्च कोटि के हुए हैं। रामजी द्वारा इतना लंबा चौडा और खुले दिलका भापण सारी रामायण में वह एकही है। ये दोनों भापण दिखने में बिलकुल स्वतंत्र से मालूम होते हैं; परंतु विचार करनेसे ऐसाही विदित होता है कि इन दोनों में सामान्य विशेपता एकही है। यह सामान्य विशेपता परस्पर विपयक कृतज्ञता है।

ये भापण इतने उत्कृष्ट है कि इनका तारतम्य भाव देखने-वाला स्वयंही भ्रमीभूत होता है। हम इतनाही कह सकेंगे कि भरतजीका भापण सेवाधर्म का एक अप्रतिम नमूना है और रामजी का भापण स्वामी धर्म का अनुपम उदाहरण है। दोनों भाषणों में सामान्य विशेपता एकही होनेसे प्रेम-प्रवाह दोनोंमें भी एक समान ही नजर आता है, और लोकशिक्षा की दृष्टि से दोनों की योग्यता भी बिलकुल समान है। स्वामी-सेवक के हृदयों का जिसमें एकी-करण हुआ है ऐसे आदर्शभूत प्रसंग गोसांईजी की रामायण में विशेपतः अयोध्याकांड और सुंदर कांड मेंही दिख पडेंगे। परंतु ऐसे दृढ एकिकरण का प्रसंग, हमारे मतसे, यही है। इसी कारण से तो रामजीने इस प्रसंगपर ' सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ ' ऐसी मुहर लगादी है।

इन दो भाषणोंकी योग्यता गोसांईजी के ही शब्दोंमें दिखलाकर हम यह विवेचन समाप्त करेंगे।

भरतजीः—चौ०:-‘ भरत सुभाउ न सुगम निगमहूं ’

रामचंद्रजीः—चौ०:-‘ सिथिल समाज सनेह समाधी ’

(५४) भरतजी की पंचक्रोशी (पृ. ४१९-४२०)

इस वर्णन के संक्षेपके प्रमाण से उसमें मधुरता ही अधिक है। तीर्थयात्रा कोनसी भावना से और कोनसी रीतिसे होना चाहिये यह इस वर्णन में नीचेके एकही सूत्रसे स्वामीजीने समझाया है—

प्रभुपद अंकित अवनि विसेखी। आयसु होइ त आवउँ देखी ॥

(५५) अंतिम दरबारः—(प. ४१९-४२१)

यह वर्णन पढते समय चित्त बडाही उदास होता है। बारात वापस जानेपर मंडप में जो सन्नाहट नजर आती है उसी तरह इस प्रसंगसे लगाकर कांडकी समाप्ति तक पाठकोंपर वह उदासीनता अपना प्रभाव जमाती है। इस भागके पढने में थोडा भी उत्साह नहीं रहता। हमें तो इसमें कविकी मानसिक स्थिति ही प्रतिबिंबित दिखती है।

(५६) भरतजीका अयोध्या-निवास और राज्य-व्यवस्थाः—

(रा. प. ४२५-४२७)

यह प्रकरण बडाही भावपूर्ण और बोध-प्रचुर है, अतएव वह अवश्य ही पढने योग्य है। उसका हृदय यह हैः—

‘ तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ’

कांडोपसंहार.

वाल्मीकिजीने अपनी रामायण में भरतजीके प्रेमका यथार्थ स्वरूप नहीं दर्शाया था। इस कारण उनका हृदय तडफता होगा। इसी लिए स्वभावतः आये हुए (कवि परिचय-लेख १ ला देखिये) प्रसंगका लाभ उठाकर उन्होंने भरतजी के वर्णन में सुधार करने का निश्चय किया।

परंतु यह काम उन्हें बहुत ही कठिन जान पडा होगा। ऐसा न होता तो उन्होंने प्रारंभ में ही गुरुजी का मंगलाचरण न किया होता। काव्यारंभ में जैसी मंगलकामना होती है वैसी ही यह हुई है। फिर ध्यान देने की बात है कि उनके अन्य कांडों में से एक में भी ऐसे मंगल की योजना दिखाई नहीं देती। अयोध्या कांड पढकर कोई भी सहज ही कह सकेगा कि गुरुप्रसाद के बिना वाणी में ऐसा प्रसादगुण आ नहीं सकता।

इस कांड में वाल्मीकि और आध्यात्म रामायण में के केवल कथानक और पात्र लिये हुए दिख पडते हैं; बाकी बहुधा सब कविकी कल्पना का ही है। जनकजीका चित्रकूट पर सपत्नीक प्रवेश भी उसीका नमुना है। इससे विश्वास होता है कि भरतजी का उत्कट प्रेम दर्शाने के लिये अपनी कल्पना में व्यवहार और लोकशिक्षा को छोडकर उन्होंने और कोईभी तीसरा निर्बंध नहीं रखा।

गोसांईजी के रामजी और भरतजी के सदृश समान-शील–वाली जोडी हमने अन्य रामायणों में ढूंढने का प्रयत्न किया, परंतु हर जगह हमें निराशा ही होती गई। अंतमें हमे यही प्रांजलता से कहना पडता है कि गोसांईजी की इस रामभरत-जोडी के कारण ही इस रामायण का अयोध्याकांड विशेपता से वेधक हुआ है। और रामायणोंने तो हमारी निराशा ही की, परंतु केवल एक भागवतने हमारी आशा पूर्ण की। उसने श्रीकृष्ण और भीष्म-देव की जोडी हमें दिखला दी। यहां भरतजीने जैसे ‘ निज प्रण तजि राखेउ प्रण मोरा ’ कहा है उसी प्रकार वहां पितामह भीष्मदेवजी ने भी ‘ स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमव प्लुतो रथस्थः ’ कहा है।

वाल्मीकि और अध्यात्म रामायणों का युद्धकांड नाम बदलकर स्वामीजीने उसे लंकाकांड का नया नाम दिया। इसी प्रकारसे उन्होंने यदि अयोध्याकांड को प्रेमकांड नाम दिया होता तो हमारे मतानुसार यह सचमुच में अधिक शोभादायक और यथार्थ होता। अरण्यकांड के विलकुल आरंभ में ही स्वयं स्वामीजी कहते है कि ‘ पुरनर भरत प्रीति मैं गाई। मति अनुरुप अनूप सुहाई ’। इससे दिखाई देता है कि हमारी नाम के संबंध की कल्पना उन्हें भी हुई होगी।

भरतजी के चरित्र के संबंधमें स्वयं स्वामीजीने ही कह रखा है कि ‘ भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी ’। अब कोई भी हो, वह और अधिक क्या कह सकता है।

हमें केवल अब इतना ही कहना है कि इस भरतचरित्रवर्णन के समय स्वामीजी को कैसा उत्साह हुआ करता था वह उन्हींके इस नीचे दिये हुए छंद से प्रगट होता है:—

'सिय राम-प्रेम-पियूष पूरण होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को ॥
दुःख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठहिं हठि राम सनमुख करत को ॥

यहां हर तरह से चरित्र-वर्णन की सीमा हो चुकी ।

अब केवल फलश्रुति का विचार होना है । इसे पूरा करके हम इस समालोचना को समाप्त करेंगे ।

इस कांड की फलश्रुति ऐसी दी हुई है:—

सो०—' भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं ।
सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भवरस-बिरति ॥

एक तो 'भवरसविरति' की फलश्रुति ही किसी और कांड की नहीं है, और फिर दूसरे, 'अवसि' कह कर दिखलाया हुआ आत्मविश्वास और किसी भी फलश्रुति में नहीं दर्शाया गया है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि प्रारंभ में किये हुए गुरुजी के मंगल की रामभक्ति और वैराग्य ही समर्थक फलश्रुति है ।

एक विशेष बात यह भी है कि और दूसरे कांडों की फलश्रुति में किसी न किसी प्रकार से रामजी का माहात्म्य प्रमुखता से दर्शाया गया है। परंतु यहां वैसा नहीं किया गया।

इस कांडकी फलश्रुति में भरतजी का ही माहात्म्य दर्शाया है। इस उपरि निर्दिष्ट बात से प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस कांड का नायक कौन है, रामजी अथवा भरतजी ? सोरठे की शब्द-रचना से ऐसा जान पडता है कि हमारे समान ही गोसांईंजी के सामने भी यह प्रश्न था; यदि ऐसा न होता तो वे 'भरतचरित' यह पद खास तौर पर यहीं क्यों डालते ? अपनी मामूली रीति के अनुसार उन्होंने 'रामचरित' पद ही डाला होता। परंतु 'भरत चरित' पद डाल देने से इस कांड के उत्तरार्ध के नायक उन्होंने भरतजी ही निश्चित किये, और पूर्वार्ध के श्रीरामजी।

तुलना की दृष्टि से हमें यही दिखता है कि श्रीमद्भागवत में जैसा दशमस्कंध वैसा तुलसीरामायण में यह अयोध्याकांड हुआ है।

अरण्यकांड.

स्वामीजीने भरतजी द्वारा रामपादुका अयोध्या के राज्यासन पर स्थापित करा कर अपने अयोध्याकांड की समाप्ति की है, और अरण्यकांड का उपक्रम श्रीरामजी चित्रकूटनिवास छोडने की तैयारी से किया है। अध्यात्म तथा वाल्मीकि रामायण में इस कांड का प्रारंभ विराधवध से किया गया है। इस से गोसांजीका आशय ऐसा दिख पडता है कि कांड का नामनिर्देश अर्थांश के अनुसार रहे। यह व्यवस्था हमें सयुक्तिक और मार्मिक जान पडती है।

(१) जयंतशरणागति—(प० ४३३-४३४)

अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में चित्रकूट में की जयंत-कथा सुंदर-कांड के सीता-हनुमान-संवाद में दी है। गोसांईजी ने उसे इस कांड के आरंभ में ही दे दी। संविधानक की दृष्टि से यह बड़ा ही मार्मिकता का लक्षण लिया जावेगा, क्योंकि मूल रामायणों की एक त्रुटि इससे दूर हो गई। परंतु स्वामीजी का इतने से ही समाधान नहीं हुआ। उन्होंने नारदजी को बीच में लाया और ऐसे योग्य माध्यम द्वारा 'लागि दया कोमलचित संता' इस तरह दर्शाकर जयंत को रामजी के शरण में पहुंचाया। यह आश्चर्यकारक विशेषता जितनी काव्यकला की दिखाई देती है उसे अधिकतर वह हमें प्रसादगुण की दिखती है।

(२) राम-अत्रि-भेंट—(प. ४३५-४३७)

अत्रि और रामजीका संवाद बड़ा ही मृदु और मनोहर हुआ है। अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणमें अत्रिस्तव नहीं इस कारण उन रामायणों के अत्रिऋषि का पराकाष्ठा का आध्यामिक होना भासित होता है। स्वामीजी ने अपने वर्णन में उनको आध्यात्मिक रखते हुए भी ऐसा प्रेमी बना दिया है कि जिसके हृदय में प्रेम न समाने के कारण उसका प्रेम हृदय फोड़कर उमड़ पड़ा जिससे वह एक परम सयाना और अनुभवी वृद्ध ब्राम्हण के रूप में दृष्टि-गोचर होता है।

अत्रिस्तव नगस्वरूपिणी अथवा प्रमाणिका छंद में रचित है। यह छंद स्वयं ही बड़ा लोंचवाला होता है। स्वामीजी ने उस

छंद की योजना करके अपने अस्तित्व को विशेष मोहकता प्राप्त कर दी।

(३) अनुसूया-सीता-संवाद—(पृ. ४३८)

यह संवाद दोनों भी मूल संस्कृत रामायणों में है। परंतु स्वामीजीवर्णित पतिव्रताओं का चातुर्विध्य उनमें नहीं है। इस चातुर्विध्य के द्वारा उन रामायणों का सच्चा सच्चा हृदय स्वामीजी ने खोल दिया, और उसके साथ साथ ग्रंथ का विचार करने की दिशा भी सिखला दी।

(४) राम-सुतीक्ष्ण-भेंट और संवाद—(पृ. ४४३-४४७)

यह संवाद अध्यात्म में है सही, पर ऐसा उत्तम और इतना प्रेम-प्रचुर वहां नहीं दिखाई देता। गोसांईजी का सुतीक्ष्ण प्रेम में बिलकुल ही मतवाला बना हुआ दिखाई देता है। आदर, विनय, विनोद और प्रेम की दृष्टि से देखने पर, सारे काव्य में उसकी उपमा देनेके लिये कोई जोड़ मिल सकेगा तो वह केवल एक गुह ही है। हमारा मन तो यही कहता है, कि जिसे गोसांईजी के स्वभाव का अनुमान करना हो, वह सुतीक्ष्णकी ओर देखे। उसे वहां उनकी राम-भक्ति का अल्पसा चित्र दिख पड़ेगा। काव्य-दृष्टिसे भी यह संवाद काव्य-कौशल्या का एक अप्रितम उदाहरण है।

(५) लक्ष्मणजी को रामचंद्रजी का ज्ञानोपदेश—(पृ. ४५०-४५१)

यह ज्ञानोपदेश अध्यात्म में अर० कां० सर्ग ४ श्लो १७ से प्रारंभ होता है। उसमें की कठिनता निकालकर उसीके आधारसे

वहुत ही सरल शब्दोंमें यह उपदेश गोसांईजी ने अपनी चौपाइयें में उतार लिया है। शिक्षक की सच्ची शिक्षण कला यहां प्रतीत होती है।

(६) शूर्पणखा:–(पृ. ४५२-४५३)

स्वामीजीकी शूर्पणखाकी तुलनामें अध्यात्मकार और वाल्मीकिजी की शूर्पणखा वहुतही भोलीसी दिखाई देती है। स्वामीजीकी शूर्पणखा यावनी अमल की स्त्रियों की फसलमें से होनेके कारण अर्थात् ही वह वडी छिछोरी और षड्यंत्रवाली हुई है। उसी सवव वह 'ताते अव लगि रही कुमारी। मन माना कछु तुमहिं निहारी।' इस तरह ललक उठ सकी। इस निर्लज्जता के परिणाममें स्वामीजीके रामचंद्रजी को भी प्रसंगवशात: 'सीतहि चितइ कही प्रभु वाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।' इस तरह एक रंगेल अलवेलासा वनना पडा।

अपनी अभिलषित ध्येय पर एकाग्र ध्यान रख उसके अनुसार चरित्रचित्रण करने में गोसांईजीकी वरावरी कदाचित् ही कोई कवि कर सके।

(७) रामजटायु–संवाद:–(प. ४७०)

चौ०:-............................। तात कर्म निज तें गति पाई

दो०:-सीता हरण तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम तौ कुलसहित, कहहि दशानन आइ॥

यह दोहा हनु. ना. अं. ५ के निम्नलिखित श्लोक १६ का ही भाषान्तर है:—

" तात त्वं निज तेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते
ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः ।
रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीडानमत्कन्धरः
सार्धं वन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः ॥"

(८) राम-कंवध-संवादः–(प. ४७३)

शापत ताडत पुरुष कहंता । विप्र पूज्य अस गावहिं संता
पूजिय विप्र शील गुण हीना । शूद्र न गुणगण-ज्ञान-प्रवीना

ये दो चौपाइयां निम्नलिखित श्लोक का विपुलीकरण होकर स्वामीजीके ब्राह्मण-भक्तिकी द्योतक हैं:—

विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।
घ्नंतं वहुशपंतं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥ (भाग-१०-६४-४१)

(९) राम-नारद-संवादः–(प. ४७९)

यह संवाद देकर स्वामीजीने इस कांड का अंत किया है । यह संवाद अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणमें नहीं है । उसे उन्होंने कहांसे लिया होगा इसका हमें निश्चय हुआ नहीं, तौ भी इतना अवश्य कह सकते है कि राम-अवतार के कारणोंमें दी हुई नारदमोहकी कथासे इसका संवंध है ।

इस कांडका कथानुक्रम वहुधा अध्यात्मके सदृश ही है-परंतु वर्णनकी शैली भिन्न है । अध्यात्मकी स्तवन वहुतही अध्यात्म,

प्रचुर हैं; उन्हींको गुसांईजीने सहल, सरल और भक्तिप्रचुर बना दिये हैं। हमारे मतसे यह लोकोपदेशकी दृष्टिका परिणाम है।

इस राम-नारद-संवाद के कारण स्वामीजी को यह दोष लगाया जाता है कि वे अपनी भक्तिकी लहरों में पक्षपातकी ओर एकाएक बहुत ही झुक पडते हैं। उनपर इस दोषके लगाये जानेका कारण 'राम सकल नामन तें अधिका' यह चौपाई है। हमारी समझमें यह अपवाद निरर्थक है। यह न तो पक्षपात हो सकता, न अंधप्रेम। सत्यमें यह ऊर्जित भक्तिनिष्ठा है।

सीताहरण के संबंध में हमारे विचार आगे 'रावण' के पात्रपरिचय में मिलेंगे, तबतक पाठकगण समाधान रखें।

किष्किंधा-कांड।

इस कांड की कथाएं और उनके अनुक्रम अध्यात्म रामायण से बहुत कुछ मिलतेजुलते हैं। इसमें का ऋतु-वर्णन भागवत (स्कं. १०, अ. २०) का अल्पाधिकता से अनुवाद ही है। कवि ने 'स्वान्तः सुख' की कल्पनाएं भी बीच बीच में ऐसी सुंदर रीति से डाली हैं कि जिनसे यह संपूर्ण वर्णन सुश्राव्य, सुचिंत्य और बोध-प्रद हुआ है।

इस कांडकी विशेषता 'मित्र' के विषयपर श्रीरामजीका सुबोध और सहृदय विवेचन है।

बालि-वध इसी कांड में है और वह भी इस कांड की एक और विशेषता है। विशेषता कहने का कारण यह है कि बालि-वध के संबंध में श्रीरामजी पर कपटका दोष लगाया जाता है। आजकल तो विचार की यह एक परिपाटी सी हो गई है। उसे मूल में के 'विटप ओट' और 'व्याध की नांईं' ये पद आधार भूत दिखलाये जाते हैं। आक्षेप ठीक है या नहीं, इसका अब थोड़ा विचार करें।

कपट का दोष सब से प्रथम बालि ने ही लगाया था और वह उस समय लगाया था जब वह पूरा परास्त और मरणोन्मुख होने के कारण बिलकुल ही क्रोध भरा था। यहां मुख्य देखना यह है कि बालि मरता जाता था तौभी उसका अहंकार ज्यों का त्यों जीता ही जाता था। इसका प्रमाण हम बालि-निधन-वर्णन के पहिले छंदमें के 'मोहिं जानि अति अभिमान बस' इन बालि के ही शब्दोंसे लेते हैं। इसी अभिमान के वश होकर 'धर्म हेतु अवतरेउ गुसाईं। मारेउ मोहिं व्याध की नांई' इस तरह बालि ने प्रश्न किया।

अभिमानी प्रकृति की 'गुणाः पदं न कुर्वंति ततो निंदां प्रवर्तते' यह स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति रहती है। क्या बालि की दृष्टि से देखना हमारे लिये भी ठीक होगा?

आक्षेपार्ह दो पदों में से 'तरु ओट' है। सभी संहिताएं एक मत से यही प्रतिपादन करती हैं। इसलिये इसके संबंध में

किसी को भी फरक करने का हक नहीं; पर केवल एक इसी बात पर बिलकुल निर्भर रहकर कपट का दोष आरोपित करना सुविचार का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

दूसरा पद—'व्याध की नांई' है। यथार्थ में यह पद निर्घृणता का दर्शक है, क्योंकि व्याध-कर्म अवश्य ही निर्दयता का होता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह सदा कपट ही भरा रहता है। इसलिये व्याध शब्द से दयाशून्यत्व लेना होगा।

आक्षेप करनेवाले पक्ष के लोग व्याध शब्द से कपट-भाव लिया करते हैं। हमारे मत से जिस व्यवहार के संबंध में, जिस विषय का प्रकाशन करना अत्यावश्यक रहता है, उस व्यवहार के संबंध में, उस विषय का आच्छादन जब किसी से जानबूझ कर किया जाता है, तभी वह क्रिया कपट कहलाती है।

इस व्याख्यानुसार, अपने को जानबूझकर छिपाकर, यदि रामजी ने बालिपर बाण चलाया होता, तो उनपर कपट का अपराध अवश्य ही प्रमाणित हो सकता। परंतु मूल-ग्रंथ ही स्पष्ट कहता है कि यद्यपि बालि मैदान में डटा हुआ प्रत्यक्ष सामने खड़ा था तौभी, रामजी ने 'एक रूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रमतें नहिं मारेउ सोऊ' ऐसा कहकर तुरंत ही 'कर परसा सुग्रीव सरीरा' और 'मेली कंठ सुमन की माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला' इस प्रकार से सुग्रीव को फिर भेजा। इस वर्णनसे यह सोपपत्तिक सिद्ध हुआ कि अपनेको छिपाना तो दूर ही रहा, उलटे और बालि की ही दृष्टि

अपनी ओर खींचने का खास और निःशंक प्रयत्न रामजी ने जान-बूझकर किया; (स्मरण रहे कि 'मैं चीन्ह नहिं सका' यह केवल औपचारिक निमित्त बतलाते हुए प्रत्यक्ष पक्षपात बतलाने के लिये और वालि की दृष्टि उस तरफ खींचने के लिये रामजी ने सुग्रीव को पुष्पमाला पहिनाई थी।

आक्षेप करनेवालों का अब ऐसा भी दर्शाने का प्रयत्न होगा कि वालि ने रामजी के किसी भी कार्य की ओर,—सुग्रीव के गले में की माला की ओर भी,—दृष्टिक्षेप न किया हो। पर एक तो यह कहना ही सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि वालि कुछ आंखें मूंदकर नींद में अथवा समाधि में नहीं लड़ रहा था। और दूसरे, यदि वालि ने देखा ही नहीं, या देखने की परवा न की, तो यह किसका दोष है? यह साफ साफ उसका ही दोष है।

इन सब बातों का इस प्रकार विचार करने पर रामजी के ऊपर लगाया गया कपट का आक्षेप, हमारे मत से, अनुपपातिक है।

सुन्दर-कांड।

रामायण में कांडों का नामनिर्देश नायक की (श्रीरामजीकी) अवस्था, स्थल और क्रिया पर ध्यान रखकर ही किया गया दिखता है। इस पद्धति के अनुसार इस कांड को 'सीता-शुद्धि-कांड' अथवा इसी प्रकार का कोई दूसरा नाम देना चाहिये

था; परंतु सब से प्रथम वाल्मीकिजी ने ही इसे 'सुंदर' नाम दिया, और बाद में उसी नाम का प्रचार हुआ।

यथार्थ में इस कांड को ही 'सुंदर' कहने से ऐसा हो गया कि बाकीके सब कांड सुंदर नहीं हैं। यह ध्वनि क्या वाल्मीकिजी की समझ में न आई होगी? तौभी उन्होंने इस कांड का वही नाम रखा है—इसका कारण क्या होगा? इस प्रश्न का विचार होना आवश्यक है।

जब ऐसा निश्चय हो जाता है कि असाध्य वस्तु के साध्य होने के साधन आकस्मिक योग से प्राप्त हो जाते हैं, तब भावी आनंद की प्रभा, एकदम चित्तपर झलकने लगती है। रावण के कुलक्षय का मुख्य साधन सीता-शोध था। श्रीहनुमानजी द्वारा उस साधन के हाथ में अकस्मात् उपस्थित होने से रामजी एकदम आनंदमें मग्न हो गये। यह आनंद की अवस्था बहुतही सुंदर रहती है। श्रीरामजी की इसी अवस्था का निदर्शक समझ कर आदि कवि ने इसे 'सुंदर कांड' का प्रेमयुक्त नाम दिया होगा।

एक दूसरी कल्पना यह भी है कि वाल्मीकि और अध्यात्म दोनों रामायणों का सुंदरकांड, सीताशोध तथा हनुमानजी के प्रेमानंद तक है। इस राम-हनुमान-प्रेम की समरसता का परिणाम, वाल्मीकिजी को भी समरस करने में हुआ ही होगा, क्योंकि गोसांईजी की भी वह समरस अवस्था हुई थी। यह हमें उन्हींके शब्दों में नीचे दिये हुए अवतरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है—

(रा. पृ. ५४५)

सुनि प्रभु वचन विलोकि मुख गात हरषि हनुमंत ।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ॥ ३१ ॥

वार वार प्रभु चहहि उठावा । प्रेम मगन तेहि उठन न आवा
प्रभुपदपंकज कपि के सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर

इसी समरस अवस्था का सूचक (या उपलक्षण) समझकर इस कांड को 'सुंदर' विशेषण आदिकवि ने यदि प्रेम और गौरव से दिया हो तो वह भी बिलकुल स्वाभाविक हो सकता है।

हर तरह से देखने पर हमारा अभिप्राय यही होता है कि काव्य-गुण की दृष्टि से कांड का तारतम्य-भाव सोचकर इस कांड का नाम 'सुंदर कांड' नहीं रखा गया है। यह नाम रामजी के अथवा कविके प्रेमाविष्कार से, (अथवा हनुमानजी को यदि उप-नायक समझें तो उनके प्रेम-प्रागल्भ्य से) धरा गया होगा।

(१) लंका-कांड—(रा. पृ. ५२६-५२७)

यह वर्णन बिलकुल ही अनुष्टप होनेपर भी वह जितना मजेदार है उतना ही मार्मिक है। अध्यात्म और वाल्मीकिजी के वर्णनों में नीचे दिया हुआ वर्णन नहीं मिलता।

× × × × ×

नर-नाग-सुर-गंधर्व-कन्या रूप मुनि मन मोहहीं।
कहुं माल देह विशाल सैल समान अतिवल गर्जहीं।
नाना अखारन्ह भिरहिं बहुविधि एक एकन्हि तर्जहीं ॥

इससे यही कल्पना होती है कि उपर्युक्त वर्णन कविकालीन दिल्ली, आग्रा इ० यवन लोगों से गचपच भरे हुए शहरों का ही होगा।

यहां एक महत्व की बात उल्लिखित करने योग्य है। मल्ल (पहलवान) और उनकी शिक्षण-संस्थाएं (अखाड़े) लंका के वर्णन में ही दी गई हैं। अयोध्या अथवा मिथिला के वर्णनों में उनका नाम-निशान तक नहीं है। इसपर से यह अनुमान निकल सकता है कि पहलवानी पेशे के बारे में गोसांईजी का मत अनुकूलसा नहीं था।

(२) मारुति-लंकिनी-संवाद—(पृ. ५२७)

यह दोहा— तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख भरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत संग॥

नीचे दिये हुए भाग. स्कं. ४ अ. २४ श्लोक ५९ का समर्पक भाषांतर है:—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य.........

(३) हनुमद्विभीषण-संवाद—(पृ. ५२८-५२९)

हनुमानजी और विभीषणकी भेंट और संवाद अध्यात्म और वाल्मीकि में नहीं है। नाटक अथवा चंपू में भी हमें वे नहीं मिल सके। किसी पुराण में हो तो हम नहीं कह सकते।

हनुमानजी और विभीपण की भेंट के विषय में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं:-(१) उसके प्रमाण का, और (२) उसके प्रयोजन का। इसका विचार अब इसी क्रम से होगा।

विभीपणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम्।

(अ. रा. सुं. कां. स. ४ श्लो. ४४)

वर्जयित्वा-महातेजा विभीपणगृहं प्रति।

(वा. रा. सुं. कां. स. ५४ श्लो. १६)

इन प्रमाणों से निर्णित है कि हनुमानजी को विभीपण का महल परिचित था।

आगे चलकर ऐसा उल्लेख मिलता है—

राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागतः।
एतावत्तु पुरस्कृत्य विद्यते तस्य संग्रहः॥

(वा. रा. कां. स. १७, श्लो. ६७)

ध्यान में रहे कि यह उल्लेख उस समय का है जबकि विभीषण रामजी के शरण में आ गया था, और उसका स्वीकार करने के लिये रामलक्ष्मणजी के अतिरिक्त बाकी सब प्रतिकूल थे, और केवल एक हनुमानजी ही उसकी शिफारस जोरों से कर रहे थे। हनुमानजी ने इतना जोर लगाया इससे स्पष्ट होता है कि विभीषण का हृद्गत उन्हें पूरा पूरा विदित था। यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि दूसरे से पूंछपाछ करनेपर उन्हें वह मालूम हुआ था,

क्योंकि एक तो यह कि हनुमानजी गुप्तदूत होने के कारण उनका वैसा करना बिलकुल ही असभंव था, और दूसरी बात ऐसी कि इस तरह पूछपाछ करने का वर्णन कहीं भी उपलब्ध नहीं।

इन सब कारणों से यही अनुमित होता है कि हनुमानजी विभीषण से उसीके महल में एकांत में मिले थे।

कदाचित् यहां ऐसा भी कहा जाय कि रावण के दरबार में विभीषण ने हनुमानजी का प्राणसंकट लौटा दिया इस उपकार की अदाई में हनुमानजी ने श्रीरामजी के सामने उसकी ऐसी तरफदारी की। विभीषण के केवल परिचय के बारें में यह कहना ठीक होगा, परंतु उससे इस बातकी सबूत नहीं मिल सकती कि हनुमानजी ने विभीषणका महल भी देखा था। विभीषण का महल उन्होंने बचा दिया यह बात यदि स्वीकृत हो चुकी है तो हनुमानजी और बिभीषण की भेंट के बारे में स्वामीजी की दृष्टि से ही देखना पड़ेगा।

(२) उपर्युक्त भेंट के विषय में संदिग्धता नहीं रही। अब उसका प्रयोजन देखना चाहिये। हनुमानजी विभीषण को राज्य-कांक्षी कह चुके थे। पश्चात् रामजी ने भी उसे वैसा ही ठहराया है—

(वा. रा. यु. कां. स. १८, श्लो. १३)

न वयं तत्कुलीनाश्च राज्यकांक्षीच राक्षसः।
पंडिता हि भविष्यंति तस्माद्ग्राह्यो विभीषणः॥

इसी बातको गोसांईजी ने स्वयं विभीषण ही के मुख द्वारा 'उर कछु प्रथम वासना रही' इस प्रकार कहलवाया है । उसपर 'मम दरसन अमोघ जग माहीं' ऐसा कहकर तुरंत ही 'राम तिलक तेहिं सारा'। इस तरह उसे लंकाधिपति बनाकर रामजीने उसकी गुप्त वासना प्रगट कर दिखला दी । (पृ. ५५५ देखो ।)

विभीषण का राज्यकांक्षी होना यह एक बात हुई । अब दूसरी बात यह है कि वह गिनती का राजनीतिनिपुण भी था । इस बात के लिये नीचे के प्रमाण देखिये—

'नीति विरोध न मारिय दूता ।' (पृ. ५३८)
'कही विभीषण नीति बखानी ।' (पृ. ५५०)
'जद्यपि तदपि नीति अस गाई ।' (पृ. ५५६)
'अति नय निपुन न भाव अनीती । ' (पृ. ५५३)

अब सोचिये कि ऐसा राज्यकांक्षी और राजनीतिज्ञ, अर्थात् स्वार्थी, बुद्धिमान् और चतुर, विभीषण भाई के प्रत्यक्ष शत्रु के शरण में अल्प भी पूर्वपरिचय विना एकाएक ही कैसा जा सकता है । कुछ ना कुछ पूर्व अनुसंधान के विना ऐसी बात होना एकदम ही अस्वाभाविक दिखती है ।

उपर्युक्त अस्वाभाविकता का दोष निकाल देना यही हमारी समझ से हनुमद्विभीषणसंवाद का मुख्य प्रयोजन है । इस संवाद से विभीषणशरणागति की शृंखला जुड़ी जाती है और कथानक की त्रुटि साफ निकल जाती है ।

हमारी दृष्टि से तो यह संवाद विभीषणशरणागति की प्रस्तावना ही है जिसके कारण उसे (विभीषणशरणागति को) इतनी रमणीयता आ सकी। ऐसी रमणीयता लानेवाली कविकल्पना की यथार्थ प्रशंसा, हमारी समझ से, हो ही नहीं सकती।

(४) नाटकानुवाद—(प. ५३०)

चौ०—स्याम-सरोज-दाम-सम सुंदर। प्रभु भुज करि-कर-सम दसकंधर
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा

ऊपर वाली चौपाइयाँ प्र. रा. ना. अं. ६ श्लो. ३० का भाषांतर ही हैं। वह श्लोक यह है:—

रघुपतिभुजदंडादुत्पलश्यामकांते—
दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्।

वैसे ही 'चंद्रहास हरु मम परितापा' वाली चौपाई 'चंद्रहास हर मे परितापं। रामचंद्र-विरहानल-जातम्' इस (प्र. रा. ना. अं. ६ श्लो. ३२) का केवल श्लोकार्थ ही है।

(५) सीता देवी की अग्नियाचना—(प. ५३१)

त्रिजटा और सीतादेवी के संवाद में अपने आपको अग्नि में समर्पण कर देने के लिये सीताद्वारा त्रिजटा को अग्नि याचना का वर्णन अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में नहीं है। यह भाग प्र. रा. नाटक अं. ६ में से लिया है। परंतु दोनों वर्णनों को बारीकी से देखने पर यही दिखेगा कि निपुणता और मार्मिकता गोसांईजी में ही विशेष पाई जाती है।

(६) मारुति द्वारा रामसंदेश—(पृ. ५३३)

नीचे दी हुई चौपाइयां संस्कृत के कुछ श्लोकों के अनुवाद हैं—

कहेउ राम वियोग तव सीता। भो कहं सकल भये विपरीता
नवतरु किसलय मनहुं कृसानू। काल-निसा-सम निसि ससि भानू
कुवलयविपिन कुंत-वन-सरिसा। बारिद तपततेल जनु बरिसा
जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास-सम त्रिविध समीरा
कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहेउं यह जान न कोई

इन चौपाइयों को प्र. रा. ना. अ. ६ के नीचे दिये हुए ४३ वें ४४ वें श्लोकों से मिलानकर देखिये—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः सरिद्वीचीवातः
कुपित फणिनिश्वास पवनः। नवा मल्ली भल्ली कुवलयवनं
कुन्तगहनं मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि विपरीतं जगदिदम्॥
कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयाः स्नेहसारम्।

परंतु—

जानात्येकं शशधरमुखि प्रेम तत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतच्चिरमनुगतं तत्प्रिये किं करोमि॥

इस उत्तरार्धमेंके भाव की अपेक्षा कितनी अधिक गंभीरता और लोंच स्वामीजी ने नीचे की चौपाइयों में लाई है सो देख लीजिये—

तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं

इन चौपाइयों की सरसता जैसी स्वामीजी ने दिखलाई है वह यह है—

प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही

(७) रामहनुमान-संवाद—(पृ. ५४४)

चौं०—कहहु तात केहि भांति जानकी। रहति करति रक्षा स्वप्रानकी

दो०—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज-पद-जंत्रित जाहि प्रान केहि बाट॥

यह कविकी निजकी ही कल्पना दिखती है। पर यह केवल कल्पना ही न समझी जावे; इसमें अभ्यास का मार्ग ध्वनित करते हुए कुछ योग-मुद्रा भी बतलाई गई सी दिखती है।

रा. पृ. ५४५ दो० ३१ और उसी के नीचे की दो चौपाइयां देखियेः—

दो०—सुनि प्रभु वचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

चौं०—बार बार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा
प्रभु-पद पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा

यह वर्णन अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में नहीं है। यह स्वामीजी का निज का ही है। वह उनका भक्त्युद्रेक है। किंबहुना उसमें स्वामीजी ही प्रतीत हुए से भाविकों को दिखेंगे।

इसका कारण उन्होंने ही प्रगट किये हुए इस संवादके निम्नलिखित माहात्म्य में देखिये—

यह संवाद जासु उर आवा। रघुपतिचरन भक्ति तेहि पावा।

(८) रामदलप्रस्थितिवर्णन—(पृ. ५५७)

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहि मोहई
गहि दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई
रघु-बीर-रुचिर-पयान-प्रस्थिति जानि परम सुहावनी
जनु कमठखर्पर सर्पराज सो लिखत अविचल पावनी ॥ ५ ॥

ऊपरका छंद नीचेके हनु. ना. अं. ७ श्लो. ३ का अनुवाद है।

नृपतिकुटरम्न त्वत्प्रयाणप्रशनास्ति प्लवगबलनिमज्जद्भूभराक्रांतदेहः।
लिखति दशनटङ्कैरुत्पताद्भिः पतद्भिर्जरठकमठभर्तुः खर्परे सर्पराजः ॥

परंतु छंद की रचना बड़ीही उत्तमता से हुई है।

(९) सत्छलफलवर्णन—(पृ. ५५१)

चौ०—अस कहि चला विभीपन जबही। आयुहीन भे निसिचर तबहीं।
साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल के हानी।
रावन जबहि विभीषण त्यागा। भयउ विभव बिनु तबहिं अभागा।

ऊपरवाली सत्छलफलकल्पना स्वामीजी की नीचे की कवित्त में भिन्न प्रकार से परंतु अतीव मार्मिकता से रखी गई है—

बेद विरुद्ध महामुनि सिद्ध ससोक चराचर लोक उजार्‍यो
अउर कहा कहुं सीय हरी तबहूं करुनानिधि कोप निवार्‍यो।
सेवक छोभते छांड़ि छमा तुलसि लख्यो राम सुभाउ तुम्हार्‍यो
तौलौं न दाबि दल्यौ दसकंधर जौलौं विभीषन लात न मार्‍यो।

(१०) भागवतानुकरण—(पृ. ५५१)

'चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मनमाहीं' यहां से विभीषण का रामजी की शरण में जाने का वर्णन है। इस वर्णन से भागवत (स्कं. १०, अ. ३८) के अक्रूरागमनवर्णन का भास होता है।

> जे पद परसि तरी रिपिनारी। दंडक-कानन-पावन-कारी
> जे पद जनकसुता उर लाये। कपट-कुरंग-संग धर धाये
> हर-उर-सर-सरोज पद जेई। अहो भाग्य मैं देखिहउं तेही

ऊपर की चौपाइयों को भाग. स्कं. ११ अ. ५ के नीचे दिये हुए श्लोकों का ही अनुकरण समझना चाहिये—

> ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
> भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३॥
> त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
> मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४॥

(११) भागवतपद्व्याख्या—(पृ. ५५१)

भाग. स्कं. ११ अ. २ श्लो. ५५ ऐसा है—

> 'प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः।

> जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा
> सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बांध बरि डोरी
> समदर्शी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं
> अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे

१२) काव्यकौशल्य—(पृ. ५५५)

स्वामीजी ने विभीषण राज्याभिषेक में रामजी की प्रशंसा इस प्रकार की है—

> जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दसमाथ।
> सोइ संपदा विभीषणहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

ऊपरवाला दोहा 'या विभूतिर्दशग्रीवे शिरच्छेदेन शंकरात्। दर्शनाद्रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे' इस सुभाषित का अक्षरशः भाषांतर है। परंतु दोहे में कवि ने केवल 'सकुचि' इतना ही पद डाल कर कैसा काव्यकलानैपुण्य दिखलाया यह विचार करने योग्य है। अत्याचार और हिंसा से मिलाई हुई, अतएव खून से भरी हुई लंका की राज्यरूपी अपवित्र संपत्ति भक्त विभीषण को देकर शुद्ध को अशुद्ध ही बनाना होगा; अथवा विभीषण की सहायता से यदि सीतादेवी का लाभ हो तो लाभके प्रमाणसे लंकाकी संपत्ति दर्याव में खसखस सी ही होगी; इन विचारोंसे रामजी 'सकुचि' यानी लज्जित हुए। एक 'सकुचि' पद डालने से रामजी की कृतज्ञता, वात्सल्य और औदार्य कैसे ध्वनित हुए, यह कोई भी स्पष्ट देख सकता है। कवित्वगुण ईश्वरदत्त होता है इसमें कुछ संदेह ही नहीं।

कोई कोई विद्वानों को उपर्युक्त दोहे में स्वामीजी का भरपूर पक्षपात नजर आने के कारण उन्होंने बड़ी ही कड़ी टीका की है। वे लिखते हैं कि स्वामीजी उक्त दोहे के द्वारा रामजी की प्रशंसा करने के लिये शंकरजी की निंदा करने को जरा भी नहीं हिचकते। घोड़ा मैदान सामने ही हैं, हमें अधिक वाच्यता करने की आवश्यता नहीं।

इस कांड के विस्तार का भी विचार होना चाहिये। अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में सुंदर कांड का कथाक्रम सीताशोध तक ही रखा है; परंतु स्वामीजी के सुंदरकांड का कथाक्रम सागरनिग्रह तक बढ़ गया है। बढ़ाये हुये कथानक (यानी सैन्यका सागराक्रमण, बिभीपणशरणागति, बिभीपणराज्यदान और सागरनिग्रह) स्वामीजीको सीताशुद्धि के सदृश ही रसीले दिखे हों, अथवा अन्य रामायणों के युद्धकांड के समान उनका लंकाकांड विस्तृत न हो, ऐसे कोई ना कोई विचार के कारण उन्होंने अपनी लंकाकांड की योजना दिखती है उस तरह की। कांड के बढ़ने घटने का हमें महत्व नहीं। असल में महत्व की बात उनका विचारस्वातंत्र्य है। पाठकगण उसका विचार करेंगे।

अंत में इतना ही कथन है कि स्वामीजी के सुंदरकांड के दो विभाग होते हैं— पूर्वार्ध सीताशुद्धि तक, और उत्तरार्ध सागरनिग्रह तक। स्वामीजी के सुंदरकांड का अनुष्टान इस विभागविचार से होना चाहिये या नहीं इसका निश्चय अनुष्ठाता स्वयं ही कर लेंगे।

लंका-कांड

वाल्मीकि और अध्यात्मकार ने इस कांड का नाम युद्धकांड रखा है। यथार्थ में उनका यह नाम योग्य ही है क्योंकि उनके इस कांड का प्रारंभ युद्ध की तैयारी से (रामजी की सेना के किष्किधा से कूच करने से) है।

गोसांईजी को इसे युद्धकांड नाम देनेमें दिक्कत मालूम हुई, क्योंकि युद्ध की प्रास्ताविक कथाएं उन्होंने सुंदर में ही दे दी थीं। अतएव उनका उपक्रम अब लंकाक्रमण से ही होना इष्ट था। इस बातको सोचकर उन्होंने इस कांड को लंकाकांड कहा है और यही ठीक हुआ है।

(१) हनुमानजी के शौर्योद्गार—(पृ० ५६६-५६७)

सो-(१) सिंधुबचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ।
अब बिलंब केहि काम करहु सेतु उतरइ कटक॥

सो०-(२) सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥

चौ०—यह लघु जलधि तरत कति बारा। अस सुनि पुनि कह पवन कुमारा
प्रभुप्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी
तव रिपु-नारि-रुदन-जल धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा

इन में के भाषण बडे ही गभीर और कौशल्यदर्शक हुए हैं। ऐसे शौर्योद्दीपक भाषण युद्ध के पुरोगामी रखने से कवि की कल्पकता बड़ी ही प्रशंसनीय मालूम होती है।

(२) सेतुबंध-रामेश्वर-वर्णन—(पृ० ५६७-५६८)

यह प्रसंग वाल्मीकि में नहीं है। वह अध्यात्म से लिया गया है। परंतु स्वामीजी ने 'मद्भक्तः शंकरद्वेष्टा मद्द्वेष्टा शंकरप्रियः। तौ नरौ नरकं यातो यावच्चंद्रदिवाकरौ।' इस पौराणिक श्लोक का ही शब्दशः भाषांतर करके उसमें अध्यात्म की अपेक्षा

अपनी ओर से कुछ विशेष बातें मिला दी हैं, और परस्पर द्वेष बढ़ानेवाले शैववैष्णवों के कान खोल दिये हैं।

(३) सेतुबंधन—(पृ० ५६८)

चौ०—बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेही
महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी

चौ०—श्रीरघुवीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषाण।

यह नीचे के श्लोक (हनु. ना. अं. ७ श्लो. १९) का भाषांतर है—

'ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे।
वार्धौ वीर तरन्ति वानरभटान्संतारयन्तेऽपि च॥
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः।
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमारम्भः समुज्जृंभते॥'

दो०—बांधेउ जलनिधि नीरनिधि जलधि सिंधु वारीश।
सत्य तोयनिधि कंपनिधि उदधि पयोधि नदीश॥

इस दोहे में रावण के दसों मुखसे लगातार समुद्र के दस प्रकार के भिन्न भिन्न नाम निकलवाये हैं, जिससे कवि ने बड़ी कुशलता से भय के मारे रावण की घबराहट दिखलाई है। स्वभावोक्ति का यह एक उत्तम नमूना है।

(५) सुवेल पर्वत पर श्रीरामजी का शब्दचित्र—(पृ० ५७२)

सैलसृंग एक सुंदर देखी। अति उतंग सम सुभ्र विसेखी
तहं तरु-किसलय-सुमन-सुहाये। लछमन रचि निज हाथ डसाये
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला

प्रभु कृतसीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा
दुहुं कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चांपत बिधि नाना
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन

ऊपर का शब्दचित्र कैसा प्रसंगोचित, रमणीय, और मार्मिक हुआ है! यह वर्णन स्वामीजी की शब्दचित्र उतारने की शक्ति का प्रेक्षणीय उदाहरण है।

(६) राम-सैनिक-विनोद—(प. ५७३)

कह प्रभु ससि महं मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महं प्रगट भूमि कै छाहीं
मारेउ राहु ससिहि कह कोई। उर महं परी स्यामता सोई
कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं
प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निजउर दीन्ह बसेरा
विष संयुत करनिकर पसारी। जारत बिरहवंत नरनारी

दो०—कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निजदास
तव मूरति बिधुउर बसति सोइ स्यामता अभास

यह वर्णन आध्यात्म और वाल्मीकि रामायण तथा हनुमत्प्रसन्नराघवादि नाटकों में नहीं मिला। यदि यह कविकल्पना अनुच्छिष्ट हो, तो गोसांईजी पर कविमंडन, कविकेसरी, कविकुलावतंस इ० पदवीयों का वर्षाव आज भी हुए बिना नहीं रह सकता

(७) रावणाभिनिवेश—(प. ५७५)

चौ०—सिरउ गिरे संतत सुभजाही। मुकुट गिरे कस असकुन ताही

इस एकही चौपाई से रावण का स्वरूप स्वामीजी ने ठीक उस बेशरम का सा बतलाया है जो लातें खाकर भी कहता ही है कि पीठ का मैल झड गया।

(८) मंदोदरी का रावण को उपदेश—(पृ. ५७५-५७६)

इस उपदेश में रामजी का विराटस्वरूपवर्णन है। वह अध्यात्म तथा वाल्मीकि में नहीं है। जान पडता है कि वह भाग. स्कं. २ अं. १ में से लिया गया है। यह देखने योग्य है कि मंदोदरी के उपदेशका परिणाम 'फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद। मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सिव' इस सोरठे में कैसी मार्मिक रीति से दर्शाया है।

(९) अंगद का दौत्य—(पृ ५८२-५९४)

अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग नहीं है। वह वाल्मीकि में है परंतु बहुत ही संक्षेप में। इस वर्णन में हनुमन्नाटक की कल्पनाएं कुछ फेर-फार के साथ ली हुई दिखाई देती है। परंतु उसका उपयोग प्रसंगवर्णन को आकर्षक बनाने में जितना होना चाहिये था, उतना हुआसा नहीं दिख पडता। अंगदजी की मर्म-भेदक वक्रोक्ति और रावण की बेढंगी गर्वोक्ति नमूनेदार है। इस वर्णन में अंगद और रावण इनमें परस्पर गुणवैधर्म्य बड़ी ही खूबी से दिखलाया गया है। अंगदजी की तेजस्विता, आत्मविश्वास, स्वामिभक्ति (राम भक्ति) इत्यादि गुण उत्तरोत्तर कैसे वृद्धिंगत होते गये वह देखने योग्य है। रावणसभा में किसी ने भी पांव उठाया तो सीताजी को

हार जाने का जो प्रण अंगद ने किया हुआ दर्शाया है वह उसके इन सभी गुणों का अपरिमित उत्कर्ष ही समझना चाहिये।

परंतु वैसा प्रण ठानना विपक्षी परीक्षा ही है इस समझसे अंगद के पांवके समीप रावण आतेसे ही स्वामीजीने सब प्रसंग एकदम औंधा कर दिया। यह प्रसंग उलटाने का प्रकार इतना बेहद खुबीदार हुआ है कि वह कविकी कल्पकता, समयसूचकता और विनोदी स्वभाव का परिचय कराये विना रही नहीं सकता।

अंगददौत्य का गर्भितार्थ यह दिखता है कि रामजी का कृपापात्र एक छोटासा बंदरबच्चा भी रावण सरीखे की ताकत और होप गूंग कर देने का सामर्थ्य रख सकता है। हमारी दृष्टिसे 'ताकहं प्रभु कछु अगम नहीं जापर तुम अनुकूल। प्रभुप्रताप बड़वानलहिं जारि सकइ खल तूल' (सुं. का. पृ० ५४६) जो हनुमानजी द्वारा कहा गया है उसी का यह अंगददौत्य प्रकरण केवल एक आदर्श ही हुआ है।

(१०) मंदोदरीका रावणको उपदेशः—(पृ० ५९४-५९५)

लक्ष्मणजी द्वारा खींची हुई रेषातक लांघी न गई, जनकसभामें धनुष्य उठाते तक नहीं बना, इत्यादि मर्मकी बातें मंदोदरीने अपने उपदेशमें कही हैं। इससे दिख पडता है कि उसपर रावण का अत्यंत प्रेम, विश्वास और आदर था। ऐसा न होता तो अपनी मानहानिकी ऐसी गुप्त बातें वह उससे कदापि न कहता।

रावणको मंदोदरीके चार उपदेश हुए हैं, उनमें यह अंतिम है। यह उपदेश बडा ही कडुवा हुआ है तो भी रावण मंदोदरीका एक शब्दसे भी अपमान अथवा उपमर्द नहीं कर सका। गोसांई-जीने इसमें यही दिखलाया है कि पतिव्रता स्त्री की ओजस्विता किस प्रकार की रहती है।

(११) इंद्रजित के शक्तिप्रहारसे लक्ष्मणजीकी मूर्छा–(पृ. ६०५-६०९)

दिख पडता है कि स्वामीजीने इस प्रसंगको अध्यात्म, वाल्मीकि, और हनुमन्नाटक (अंक १२) इन सबकी सहायतासे चित्रित किया है। अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणमें कहा है कि रावणके शक्तिसे लक्ष्मणजी को यह मूर्छा हुई। कालनेमी की कथा केवल अध्यात्म रामायणमें ही है। हनुमान्-भरत-भेट दोनोंमें भी नहीं है। वह हनुमन्नाटक में की दिखती है। उर्वरितकथाभाग स्वामीजीका ही है।

(१२) रामलक्ष्मणजी का व्यालास्त्रबंधनः—(पृ. ६१२)

यह कथा अध्यात्ममें नहीं। वह वाल्मीके रामायणसे ली है।

(१३) धर्मरथरूपकः—(पृ. ६४८)

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ ध्वजा पताका
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे
ईसभजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना
दान परशु बुधि सक्ति प्रचंडा। वर विज्ञान कठिन कोदंडा
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना

कवच अभेद विप्र-गुरु-पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहं न कतहुं रिपु ताके

दोहा—महा अजय संसाररिपु जीति सकइ सो वीर।
जाके अस रथ होइ दृढ सुनहु सखा मतिधीर॥

अध्यात्म तथा वाल्मीकि रामायणोंमें यह वर्णन नहीं है इस वर्णन में महाभारत के गीतोपदेश के प्रसंगकी छटा है। वहां अर्जुन को मोह हुआ था, इस लिये श्रीकृष्णजी ने उसे गुरुरूपसे गीतोपदेश किया। यहां विभीषण को मोह हुआ और उसे श्रीरामजीने धर्मोपदेश किया। 'इहि विधि मोहि उपदेश किय' इस वाक्य से गोसांईजीने श्रीरामजीका विभीषण को गुरूपदेश निर्दिष्ट किया।

श्रीरामजी के धर्मोपदेश में गीता के तेरहवे अध्यायकी 'अमानित्वमदाभित्व' इ० की जैसी छटा दिखाई देती है वैसी ही भाग. स्कं. ७ अ. ११ के नारदोक्त राजधर्म की भी छटा दिखाई देती है।

चाहे कुछ भी हो, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस रूपकमें का धर्म, प्रवृत्ति-लक्षण-धर्म न होने के कारण, सर्व-सामान्य धर्म नहीं कहा जा सकता। इसे निवृत्ति-लक्षण-धर्म समझना चाहिये। और ऐसा जान पडता है कि वह विभीषणको उपदेश करने के लिये ही कहा गया है। यदि वह वर्णाश्रमधर्म रहता तो उसे हम धर्म (प्रवृत्ति धर्म) कहते। गीताके 'एतज्ज्ञान मितिप्रोक्तं' कथनानुसार हम भी उसे वैसाही यानी निवृत्ति धर्म कहते हैं।

(१४) त्रिजटाकृत सीतासांत्वन—(रा. पृ. ६६४)

छंद—एहिके हृदय बस जानकी जानकी उर मम वास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत वान सब कर नास है॥
सुनि वचन हरष विषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटा कहा।
अब मरहि रिपु एहि विधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा॥

दोहा—काटत सिर होइहि विकल छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावन कर हृदय शर मारिहि राम सुजान॥

इसमें का वर्णन नीचे दिए हुए हनु. ना. अं. १४ श्लोक २६ का भाव लेकर कैसे चातुर्य से किया गया है यह देखने लायक है—

यो रामो न जघान वक्षसि रणे तं रावणं सायकैः।
स श्रेयो विदधातु वस्त्रिभुवनव्यापारचिन्तापरः॥
हृद्यस्य प्रतियासरं वसति सा तस्यास्त्वहं राघवो।
मध्यास्ते भुवनावली विलसिता द्वीपैः समं सप्तभिः॥

राम रावण युद्ध और कांडोपसंहार।

इस प्रसंग का वर्णन करते समय गोसांईजी ने अध्यात्म रामायण की संक्षिप्तता और वाल्मीकि का विस्तार निकालकर दोनों में से सौंदर्य का भाग ले लिया और उसे नाटकादिकों की कल्पनाओं से सुसज्जित कर बहुत ही मनोहर स्वरूप दिया, जिससे वर्णन बहुतही उत्कृष्ठ हुआ है। इसमें संग्राम-नदी का रूपक बीभत्स और भयानक रसका उत्कृष्ठ उदाहरण है, और मालूम होता है कि वह

स्वतंत्र कल्पना से ही रचा हुआ है। बीच बीच में स्वयं कल्पित विनोदात्मक भाषा और युद्ध क्रिया डालने से, अन्य सब रामायणों के युद्धों की अपेक्षा गोसांईजी का युद्ध-वर्णन बहुतही ओजस्वी जान पडता है।

तुलसीरामायण में युद्ध के बाद का संपूर्ण भाग वाल्मीकि और अध्यात्म के ही समान, परंतु अतीव संक्षिप्त और प्रेमपरि-प्लुत हुआ है। पुष्पक विमान से विभीषण का आकाश में से वस्त्र और आभूषण की वृष्टि करना यह एक नवीनता है।

इस वृष्टि के संबंध में एक शंका उपस्थित की जाती है। लंका का राज्य बिभीषण को दे दिया गया था अतएव रामजी ने वहां पांव भी नहीं रखा। सचमुच उनका यह लोकशिक्षणव्रत बड़ा कड़ा था। परंतु शंका यह है कि उन्होंने बिभीषण को दी हुई संपत्ति बंदरों के द्वारा क्यों लथड़वाई ? अर्थात् उनका यह कार्य लोकशिक्षा की दृष्टि से ठीक नहीं हुआ। एक तो इससे उद्दंडता दिखलाई गई। दूसरे वह संपत्ति रावण को शंकरार्पित होनेके कारण परंपरा शंकरजीका तिरस्कार भी बतलाया गया। गोसांईजी की लोकशिक्षा पर इस भाग से थोड़ा दोष ही लगता नजर आता है।

यह शंका भावनात्मक और मार्मिक है इसलिये हम उसका यहां विचार करते हैं।

राज्य के साथ ही साथ संपत्ति भी बिभीषण की हुई और उसपर श्रीरामजी का जेतृत्व (विजय) का हक भी चला गया

यह सब हमें मंजूर है। परंतु इसके पश्चात् का जो शंका का भाग है उसे भर हम नहीं मानते।

श्रीरामजीको विभीषण अपनी खुशीसे विमान भरकर संपत्ति देने लगा। श्रीरामजी ने अपना हक दिखलाकर कुछ उससे संपत्ति मांगी नहीं थी। इसलिये वे उसका स्वीकार भी कर लेते तो भी कुछ लांछन न था। परंतु दी हुई वस्तु का स्वीकार करना भी उनके व्रत को असह्य मालूम हुआ।

यहां श्रीरामजी को सच्ची सच्ची कठिनाई ज्ञात हुई वह यह थी कि एक तो विभीषण को अप्रसन्न करना उन्हें अच्छा न लगता था, और दूसरे उसकी संपत्ति का भी स्वीकार करते न बनता था। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भी बात उनके मनको उद्विग्न करने लगी। उन्होंने देखा कि विभीषण तो चिरंजीवी है, और यदि उसकी संपत्ति भी वैसी ही चिरस्थायी न हो तो उसके सुवह राजा और शाम को फकीर होने में क्या अर्थ? इस कारण उनके सन्मुख वड़ाही कूट प्रश्न आकर उपस्थित हुआ। उन्होंने देखा कि यह संपत्ति रावणने अन्याय और अत्याचार से मिलाई है। यद्यपि उसका कुछ भाग श्रीशंकरजीसे प्राप्त किया गया है तथापि स्वशिरच्छेद करके ही, अर्थात् तमोगुणमूलक क्रिया से ही। इसलिये ऐसी पापमय संपत्ति की स्थिरता असंभव तो है ही, किंतु इसके सिवा ऐसी संपत्ति के संसर्ग से विभीषण की साधकवृत्ति को भी हानि पहुँचने का भय है।

ऐसी अशुद्ध संपत्ति शुद्ध किये विना चिरस्थायी नहीं हो सकती । केवल एक इसी विचार से श्रीरामजी ने उसका शुद्धि-करण प्रयोग निश्चित किया । निष्काम राम-भक्तों के चरणोंपर उस संपत्ति को अर्पण करवा देना यह ही उनका वह प्रयोग था । हमारे मतसे यह वृष्टि 'सासंपत्तिर्विपत्तिः स्यान्महान्तो नाहताःयया' इस शास्त्ररहस्य का प्रत्यक्ष प्रयोग ही है ।

हमारी दृष्टि से इस एक वृष्टि के बहाने से श्रीरामजी ने इतनी बातें साध लीं—वानरादिकों के संबंध की अपनी कृतज्ञता और आदरबुद्धि, उनकी निष्काम भक्ति का कुतूहल, तथा बिभीषण के साधकत्व और राजवैभव का स्थायीभाव ।

उत्तर कांड

अध्यात्मकार और वाल्मीकिजी ने युद्धकांड में ही श्रीरामजी का मुख्य अवतार-चरित्र यानी राज्याभिषेक-वर्णन पूर्ण कर दिया; बाद उन्होंने सीता-त्याग से लगाकर श्रीराम-निर्याण तक का उत्तर राम-चरित्र उत्तर-कांडमें दिया । इस उत्तर राम-चरित्र को गोसांइजीनें बिलकुल स्पर्श ही नहीं किया । कदाचित् यह भाग उनको प्रेमी भक्त जनोंके हृदयको दुखानेवाला, रस का विरस करनेवाला और सामान्यतः लोकशिक्षा की दृष्टि से विशेष उपयोगी न होने वाला ही जान पडा हो । इसलिये उन्होंने लंका-कांड में केवल एक लंका का ही संबंध रखनेवाला रामचरित्र का भाग देकर राम-राज्याभिषेक और राम-राज्य-वैभव को ही अपने उपयोग का

समझा है, और इस भागको अपना उत्तर-राम-चरित्र ठहराया है । इस उत्तरचरित्र में राम-गीताकी जगह वेदस्तुति, रामस्तव और कागभुशुंडि-गरुड-संवाद स्वतंत्र रीतिसे जोड दी गई हैं जिससे उत्तर-कांड की योजना भक्ति-रस-पोषक और शिक्षणोपयोगी हुई है । हमें ऐसा मालूम पडता है, कि गोसांईजी के ध्येय की दृष्टिसे उत्तर-कांड संबंधि उनकी कल्पना और उस प्रकारकी ही उनकी रचना निःसंशय बडी ही गंभीर, उदात्त और सरस हुई हैं ।

(१) कांडारंभः—(पृ. ६८८)

स्वामीजी का उत्तर-कांड भरत-भेंट से प्रारंभ होता है । यह भरत-भेंट भक्तिभाव का एक अप्रतिम उदाहरण है । हम को तो राम-दर्शन के पूर्व की भरतजी की व्याकुलता, उस स्थिति में उनकी और श्रीहनुमानजी की भेंट और आश्वासन तथा इसके बाद उनको राम-दर्शन होना, श्रीगोसाईंजी के आत्मचरित्र में के ही भागसे भासित होते हैं । ऐसा कहने का कारण यह है कि भक्ति-विजयादि ग्रंथोंमें उनके विषय में इन्हीं भागों के सदृश वर्णन मिलते हैं ।

(२) अयोध्याविषयक रामप्रेम (पृ. ६९१)

> सुनु कपीस अंगद लंकेसा । पावन पुरी रुचिर यह देसा
> जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । बेद पुरान बिदित जग जाना
> अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ । यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ
> जनम भूमि मम पुरी सुहावनि । उत्तर दिसि बह सरजू पावनि

जा मज्जनते बिनहि प्रयासा । मम समीप पावहिं नर बासा
अतिप्रिय मोहिं इहांके बासी । मम धामदा पुरी सुखरासी

कह नहीं सकते कि इस प्रेम की स्फूर्ति गोसांईजी को सूरदासजीके नीचे दिये हुए पदसे हुई है या केवल स्वयं से ही—

काह करौं वैकुंठ महं जाय ॥ ध्रु ॥
वहं नहिं नंद, तहं नहिं गोकुल, नहिं वहं कदमकि छांह
वहं नहिं जल जमुनाको निर्मल वहं नहिं ग्वाल बाल अरु गाय ॥इ० इ०॥

चाहे जो कुछ हो, पर यह बात तो निर्विवाद है कि इस वर्णनसे गोसांईजीने हमें यह शिक्षा दी है कि यह मातृभूमि हमें वैकुंठ से भी प्रिय लगना चाहिये । 'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' ।

(३) भेंट और मंगलस्नानः—(पृ. ६९१-६९६)

ये वर्णन अत्यंत मनोवेधक और मननीय हुए हैं । इनमें गोसांईजीने व्यवहारके पाठ बहुत ही मार्मिक रीतिसे भर दिये हैं। परंतु वे एकदम ध्यानमें नहीं आते, क्योंकि उनमें का प्रेम बुद्धिको त्वरित ही अत्यंत चकित कर डालता है । उदाहरणार्थ यह भाग देखिये—

पुनि करुनानिधि भरत हंकारे । निज कर जटा राम निरुवारे
अन्हवाये पुनि तीनिउ भाई । भक्तवछल कृपाल रघुराई
भरतभाग्य प्रभुकोमलताई । सेष कोटि सत सकहि न गाई

रावणके और उसकी प्रजापुत्रादिओंके कचाकच सिर तोडने-वाले वे यही हाथ हैं जो अब यहां प्रेमकी पराकाष्ठासे भरतजी के

वाल सुलझा रहे हैं, और रामजीके-प्रेमाश्रुसे पवित्रित किये जानेवाले शरयूजीके जलसे सब भाइयोंको घसघस के नहला रहे हैं। भाई पठाकगण! यहीं वे हाथ आंखभर देख लीजिये, नहीं तो फिर केवल पछताना ही वाकी रह जावेगा।

इस प्रसंग के विषयमें निरपवाद मत यही पाया जाता है कि उसे पढकर 'त्वयि हि परिसमाप्तं बंधुकृत्यं प्रजानां' इस कालीदासोक्ति की याद होकर भी जो प्रेमसे 'नरोदिति' उसे भवभूति भी निश्चय से 'ग्रावा' से भी बत्तर समझेंगे।

(४) पाहुनोंकी बिदाः—(पृ. ७०४–७०६)

इस विदाके वर्णनका ढंग बहुतही अवर्णनीय है। यहां रामजी और अंगदजी तो केवल कृतज्ञता और प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्तियां ही दिखाई देते हैं। इस प्रसंग को लिखते समय गोसांईजी की दृष्टिमें गोकुल की गोप-गोपियों द्वारा श्रीकृष्णजी को भेजा हुआ संदेशा (भागवत स्कं. १० अ. ४७) अवश्य रहा होगा।—ऐसा कहने का कारण यह है कि यहां करुणा और प्रेम की जो लहरें उठी हैं वे सब वही की सी प्रतीत होती हैं। परंतु भवभूति कवि के उत्तर-राम-चरित पर गोसांईजी की दृष्टि पहुंची थी यह बात निश्चित है। क्योंकि 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि कोहि विज्ञातुमर्हति' इस उत्तररामचरित के श्लोक का भाव गोसांईजी ने भाषावेषसे नीचेके दोहे में बिलकुल अक्षरशः दिखलाया है—

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि ।
चित खगेस अस राम कर समुझि परइ कहु काहि ॥

सहजता, सरलता और सरसता की दृष्टिसे इस प्रसंग में का अंगदका भाषण सारी रामायण में वह एक ही है । इसमें की प्रेम और करुणाकी लहरें देखकर हमारी तो ऐसी ही कल्पना होती है कि इस भाषणकी रचना के समय कविके मनमें उनकी पूर्वावस्थाकी स्मृतियां जोरसे उछली होंगी । जन्म से ही मातापिता का सुख न देखा न सुना, बाद गुरुमहाराजका वियोग, उसपर भी पतिव्रता स्त्रीका त्याग—ऐसी आयुष्य भी क्या? ऐसी बातोंसे उद्वेग पाकर केवल एक रामजी के सिवा अन्य कुछ भी आधार नहीं इस भावनाकी उत्कटता में अंगदके भाषणकी रचना हुई होगी ऐसा हमें भासित होता है । यदि यह सत्य हो तो इस प्रसंगका अंगद स्वयं स्वामीजी ही हो सकते हैं । हमारी इस कल्पना के विचार के लिये अंगदका भाषण नीचे दिया जाता है:—

चौ० सुनु सर्बज्ञ कृपासुखसिंधो । दीनदयाकर आरतबंधो
मरतीबार नाथ मोहिं बाली । गयउ तुम्हारेहि पगतर घाली
असरन सरन बिरद संभारी । मोहि जनि तजहु भगत भय हारी
मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता । जाउं कहां तजि पदजलजाता
तुमहि बिचारि कहहु नरनाहा । प्रभु तजि भवन काज मम काहा
बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना । राखहु सरन जानि जन दीना
नीच टहल गृहकी सब करिहौं । पद बिलोकि भवसागर तरिहौं
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही । अब जनि नाथ कहहु गृह जाही

अंगदके बारे में कहना था सो हम थोडेमें कह चुके। अब रामजी की ओर देखिये। अंगद उनके चरणोंमें गिर जानेपर प्रभु रामजी 'सजल नयनराजीव' हुए, और उन्होंने अंगदको 'उठाय उरलायउ' और 'निज उर माला बसन मनि बालि तनय पहिराय'। परंतु अंगलग्न होने के कारण भृगुपदचिन्ह और श्रीवत्स वे नहीं दे सके। इससे उन्हें बडी खिन्नता प्राप्त हुई, और इसी लिये उन्हें 'बहु प्रकार' अर्थात् अत्यंत ही विनयतासे अंगदको समझना पडा। स्वामिजीके रामजी का हृदय श्रीशुकदेवजी के श्रीकृष्णजी के हृदय से कैसा साम्य रखता है यह नीचे के श्लोकमें दिख पडेगा।

यन्नामृतामलयशःश्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुंठः।
सोहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिश्छिंद्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥
भाग. स्कं. ३, अ. १६, श्लो. ६

(५) राम-राज्य में शोक करने वालों का वर्णनः—(रा. पृ. ७१३)

जिन्हहिं सोक ते कहउं बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी
अघ उलूक जहं तहां लुकाने। काम-क्रोध-कैरव सकुचाने
त्रिविध-कर्म-गुण-काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुं ओरा
धरम तडाग ज्ञान विज्ञाना। ए पंकज विकसे विधि नाना

इस रूपक की कल्पना स्वतंत्र होकर बहुत ही उत्कृष्ट है। हमारी समझ से स्वर्माधिष्ठित स्वराज्य में डरे हुए कौन रहते हैं यह इस वर्णन के बहाने से स्वामीजीने बतलाया है।

(६) रामजी का प्रजाके सन्मुख व्याख्यानः—(पृ. ७१९)

भाग. स्कं. ४, अ. २१ में पृथुराजाने अपनी प्रजाको उपदेश किया है। दिख पडता है कि गोसांईजी ने यह व्याख्यान की कल्पना उसी से ली है। परंतु उपयुक्तता की दृष्टि से इसका महत्व बहुत ही बढकर है। इसके कारण ये हैं—

(१) गोसांईजी प्रजाराधक राज्यपद्धतिके पक्षपाती थे ऐसा दिख पडता है।

(२) इस राज्यपद्धति की अंतिम मर्यादा अनीतिमान् राजाका प्रजाके ओरसे वर्जन होने तक पहुंची हुई दिखती है।

(३) इसमें पौरुष ही को दैवसे बलिष्ठ ठहराया है।

(४) इसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठताका सिद्धांत दिया है।

(५) इसमें कहा गया है कि शैव-वैष्णवद्वेष केवल बालिशताका लक्षण है।

(६) यह सिद्धांत इसमें दर्शाया है कि सत्समागम के बिना भक्ति साध्य नहीं।

(७) रामवसिष्ठसंवाद—(पृ. ७२१-७२२)

अ. रा. अयो. कां. स. २

'मनुष्य इव लोकेऽस्मिन् भासि त्वं योगमायया।
पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम् ॥ २८ ॥

> इक्ष्वाकूणां कुले रामः परमात्मा जनिष्यते ।
> इति ज्ञातं मया पूर्वं ब्रम्हणा कथितं पुरा ॥ २९ ॥
> ततोऽहमाशया राम तव संबंधकांक्षया ।
> अकार्यं गर्हितमपि तवाचार्यत्वसिद्धये ॥ ३० ॥'

गोसांईजीने ऊपर दिये हुए श्रीवसिष्ठजीके भाषण का ही यहां विस्तार किया है । परंतु वहां की अपेक्षा यहां श्रीवसिष्ठजी अधिकतर महत्व भक्ति को ही दे रहे हैं ।

(८) भागवतमतैक्य—(पृ. ७५०)

> जप तप व्रत मख सम दम दाना । विरति विवेक जोग विज्ञाना
> सवकर फल रघु-पति-पद प्रेमा । तेहि बिनु कोउ न पावइ पेमा

ये चौपाइयां नीचे लिखे भागवत के श्लोकानुसार ही हैं, और गोसांईजी का मत भी उसके अनुकूल जान पडता है ।

> दान-व्रत-तपो-होम-जप-स्वाध्याय-संयमैः ।
> श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥
>
> (भाग. १०-४७-२४)

(९) कलिवर्णन—(पृ. ७५१-७५५)

इस वर्णनका भी बहुतसा अंश भागवत स्क. १२ अ. २ में से ही लिया गया है । फिर उसमें कवि ने अपने कालका वर्णन भी बडी कुशलता से जोड़ दिया है जिससे यह भाग बड़ाही मोहक बन गया है ।

(१०) संतहृदय—(पृ. ७७८)

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कविन्ह पै कहइ न जाना
निज परिताप द्रवइ नवनीता । परदुख द्रवहिं सुसंत पुनीता

यह दोनों चौपाइयां नीचे के श्लोक का भाषांतर ही है—

मज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद्वदंतिकवयस्तदलीकं
अन्यदेहविलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम् ॥

(११) कांडसमाप्ति—(पृ. ७८०-७८१)

मालूम होता है कि इस कांड-समाप्ति की शैली की कल्पना गोसांईजी ने भागवत के ' भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते। तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वन्नोयतः प्रभो ' इस श्लोक से ली हो । परंतु उसमें उन्होंने अपनी चतुरता और प्रेम खर्च करके जो सुधार किये हैं उनके संबंध में जो कुछ लिखा जाय वह थोड़ा ही है। ग्रंथसमाप्ति की ऐसी शैली भागवत को छोडकर हमें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिली। परबोधकशक्ति का मर्म स्वामीजी को सचमुच में समझा था ऐसा ही कहना पडता है ।

काकभुशुंडि-गरुड-संवाद अन्य किसी रामायण में नहीं है; वह कवि की ही योजना है । उसे वेदांतोपन्यास कहने की प्रथा है; परंतु यह हमें ग्राह्य नहीं । हमारा मत है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिये जिस चित्तशुद्धि की आवश्यकता रहती है, उसके प्राप्त होने के मार्गका उपक्रम गोसांईजी ने इस संवादके रूपसे किया है। हमें ऐसा भी मालूम होता है कि यह संवाद राम-चरित-मानसका प्रपूरक भाग है। इस भागको जोडकर गोसांईजीने उत्कटता और दूरदर्शित्व रखने वाले उत्तम शिक्षक के योग्य ही काम किया है । यह न जोडा

जाता तो गोसांईजी के लोकशिक्षाका काम, राम-चरित-मानस सदृश 'न भूतो न भविष्यति' ऐसा ग्रंथ बनाने पर भी अधूरा ही रहा होता। श्रवण के पश्चात् जैसी मननकी आवश्यकता रहती है वैसे ही राम-चरित-मानस के लिये इस संवाद की भी आवश्यकता थी। योग्य समय देखकर गोसांईजी ने उसकी पूर्ति की। सच्चे शिक्षक और उपदेशक का लक्षण यही है।

और बात यह है कि इस संवाद में की गोसांईजीकी सिखाने की शैली अत्यंत प्रेक्षणीय और अनुकरणीय है। बिलकुल मामुली सादी, सुलभ, और रोजीना प्रचार की बातों को ही दृष्टांत के लिये लेकर विषयको पूरी तौरसे हृदय में अंकित कर देना कोई छोटा मोटा काम नहीं। यह बहुत ही थोडे शिक्षकों से साध्य है। उसपर भी पारमार्थिक विषय को ऐसी सरलतामें हृदयमें उतार देनेवाला शिक्षक तो बहुतही विरला होता है।

सामान्य जनोंकी शिक्षाके लिये इस संवादको परिशिष्ट के रूपसे मिला देनेके कारण हमारे मत से गोसांईजी शिक्षक परंपराके भी गुरु बन गये हैं।

॥ लोकशिक्षा ॥

इस विभागमें निम्नलिखित विषयोंके संबंधमें गुसांईजीके विचारोंका संक्षिप्त निरूपण किया जावेगाः—

(१) गृहशिक्षा, (२) स्त्रीशिक्षा, (३) समाजशिक्षा, (४)

राजनीति (५) कर्म और उपासना, (६) दार्शनिकविचार (वेदान्तमत) और (७) भक्ति.

इन विषयोंके संबंधमें गुसांईजीने अपने विचारोंका व्याख्यान विवक्षित और संकलित रूपसे नहीं किया। उनके विचार उनके रामायणमें इस्ततत: बिखरे हुए नजर आते हैं। उन्हें समष्टिरूप देनेके अतिरिक्त हमने कुछ भी अधिक नहीं किया। सभी मतोंका उल्लेख गुसांईजीके ही लेखनी द्वारा प्रसंगानुसार हुआ है। फूल बागके ही, माली केवल उनके नग बनानेवाला होता है, इसी प्रकार का इस लोकशिक्षा विभाग में हमारा कार्य समझा जावे। इस विभाग के किसी भी विषयके संबंधमें हमारा निजी मत किसी प्रकार न होनेके कारण गुसांईजी के मतोंकी जवाबदारी हमारे तक नहीं पहुंच सकती इतना ही हमें यहां पाठकों को निवेदित कर देना अवश्य है।

गृह-शिक्षा

ब्राम्हमुहूर्त पर (यानी कुक्कुटध्वनि के समय) घर भर में कोई भी निद्रित न रहे। सभीने उस समय अपनी अपनी उपासना अथवा गुरुमार्ग के अनुसार भगवद्भजन करना चाहिये। पश्चात् गुरु, ब्राम्हण, देव, माता, पिता और वृद्ध इनका पदवंदन हो। बाद प्रातर्विधि के सूर्योदय के पूर्वही सभी का चित्तशुद्धपूर्वक गंगास्नान हो। पश्चात संध्योपासनादि विधि अवश्य किया जावे।

ये सब कर्म दिन के प्रथम प्रहर के हैं । तदनंतर का कर्म यह है कि योग्य पुरुषों द्वारा पुराणादिओं का पठण अथवा श्रवण यथाधिकार घर में होता जावे । ये सब नित्य कर्म समझे जाते हैं । (रा. पृ०२३८, ७०९-७१०)

कुटुंब के सभी पुरुष एकही पांक्ति से भोजन करें। इससे अर्थात ही पंक्तिप्रपंच हो नहीं सकता) (रा० पृ० ७१०) । मध्यान्ह के लगभग घरभर में किसीका भी भोजन बाकी न रहे । कुछ थोड़ी विश्रांति के पश्चात् सभी को चाहिये कि अपने कार्य और व्यवसायमें मग्न रहना । दिनके अंतिम प्रहरमें पुरुष मंडलीने खुले मैदानोंमें (बस्ती के बाहर) हवाखोरी के लिये जाना चाहिये ।

(रा० पृ० १५९-१६०-७२०)

सायंसंध्या और उसके समय का पालन अवश्य होता रहे। रात्रि में भी पदवंदन सुबह सदृश होता जावे । भोजनोत्तर कुटुंबकी सभी मंडली अपने अपने नाते के अनुसार एकत्रित होकर सांसारिक चर्चा न करके कुछ पारमार्थिक चर्चा करें। इस प्रकार प्रसन्नचित्त होकर रात्रि के द्वितीय प्रहर में सुखशायी होने के लिये सभी उठ जावें, परंतु शयन के पहिले अपने अपने नाते के अनुसार कोई पादसंवाहन किये बिना न रहे । (पृ० १६४)

यह सब दैनंदिन चर्या का प्रकार हुआ । अब विशेष गृहाचार कहा जाता है ।

गृहचालक मन से सरल और गुणग्राही हो। (पृ० २३५) उसका ध्येय प्रेमजीवनसे कुटुंब पोषणका होना चाहिये। (पृ. ३२२ ३२३) घर में प्रौढ स्त्रीजन बहूबेटियों से किस प्रकार बर्ताव रखती हैं इस पर घर के अगुआ ने बारीक नजर रखना चाहिये। (पृ० २३६) घरके छोटे लडकोंको घरके बाहर खेलकूद के लिये अवश्य भेजना चाहिये, परंतु अच्छी खबरदारी से। (पृ. १४१) घर तो वही है जो कि आये गये को भी अपना ही घर जैसा मालूम होता हो। आदर और प्रेम घरभरमें रिच रहे बिना यह बात असंभ है (पृ. ७०४) गुरु-संत, गो-ब्राम्हण, माता-पिता, सास-ससुर, अतिथि-अभ्यागत इनपर घरभर का प्रेम और आदर देवता की अपेक्षा भी अधिकता से होता रहे। (पृ० ३१७-३१८) इनकी सेवा के लिये गृहचालक ने चित्त-वित्त, देह-गेह, पुत्र-कलत्र तृणवत् समझना चाहिये। (पृ० २३९, ३१७-३१८)

हरएक कुटुंब स्वधर्म, वर्णाश्रमधर्म और वैदिकक्रियाकलाप का मानों पीठ ही दिखने में आना चाहिये। (पृ० ७०७) नौकरचाकर, गोंडगवार, दीनदुखी इन सबोंसे सब घरभर का बर्ताव सादा, सप्रेम और नम्रता का रहे। (पृ० ३१०,३१९-३२०) स्वतंत्रता के सुख की कल्पनाके संबंध में सब घर भरके विचार घर के अगुआ ने जागृत रखना चाहिये। (पृ० ७१, १६७)

उपर्युक्त सांसारिक प्रेम और सुख को ईश्वर भक्तिका अधिष्ठान निम्नोपदेश के अनुसार अवश्य रहना चाहिये:—

जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ
सन्मुख होत जो रामपद करइ न सहज सहाइ

(पृ० ३५०)

गोसांईजी का यह निरूपण, हमारी समझ से, प्रपंच के परमार्थीकरण का प्रयोग ही समझना चाहिये ।

स्त्री-शिक्षा ।

नारि धर्म पति देव न दूजा '

(रा. पृ. ७२)

स्त्री-शिक्षणके विषयमें ऊपरवाला गोसांईजीका संग्रह-वाक्य है । उनके सब प्रसंगोपात्त वर्णनों को उसी का भाष्य समझना चाहिये ।

निरूपण (१)

सीताअनुसूयाभेंट—(रा. पृ. ४३८)

(इसमें से कुछ चौपाइयां यहां देते हैं ।)

चौ० कह ऋषि वधू सरल मृदु बानी । नारि धर्म कछु व्याज बखनी
मातु पिता भ्राता हितकारी । मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी
अमित दानि भर्ता वैदेही । अधम नारि जो सेव न तेही
वृद्ध रोगवश जड धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना
ऐसेहु पतिकर किय अपमाना । नारि पाव यमपुर दुख नाना
एकै धर्म एक व्रत नेमा । काय वचन मन पति पद प्रेमा
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं । वेद पुराण संत अस कहहीं

दो० उत्तम मध्यम नीच लघु सकल कहौं समुझाइ।
आगे सुनहिं ते भव तरहिं सुनहु सीय चितलाइ॥

चौ० उत्तमके अस बस मन माहीं। स्वप्नेहु आन पुरुष जग नाहीं
मध्यम पर पति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे
धर्म विचारि समुझि कुल रहहीं। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं
विनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई
पति वंचक पर पति रति करई। रौरव नरक कल्प शत परई
क्षण सुख लागि जन्म शतकोटी। दुख न समझ तेहि समको खोटी
विनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रत धर्म छांडि छल गहई
पति प्रतिकूल जनमि जहं जाई। विधवा होइ पाइ तरुणाई
सो० सहज अपावनि नारि पति सेवत शुभ गति लहहि
यश गावत श्रुति चारि अजहूं तुलसी हरिहिं प्रिय

निरूपण (२)

वनगमनोद्यत सीता (रा. पृ २८३,२८४,२८५)

दो०—प्राणनाथ करुणायतन, सुंदर सुखद सुजान।
तुम विनु रघुकुल-कुमुद-विधु, सुर पुर नरक समान॥

चौ० जहं लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय विनु तियहिं तरणि ते ताते
तनु धन धाम धरणि पुर राजू। पति विहीन सब शोक समाजू
भोग रोग सम भूषण भारू। यम यातना सरिस संसारू
प्राणनाथ तुम विनु जग माहीं। मो कहं सुखद कतहुं कोउ नाहीं
जिय बिनु देह नदी विनु वारी। तैसहि नाथ पुरुष विनु नारी
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद विमल विधु वदन निहारे

दो० खग मृग परिजन नगर वन, बल्कल बसन दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम, पर्णशाल सुखमूल॥
चौ० वन दुख नाथ कहेउ बहुतेरे। भय विषाद परिताप घनेरे
प्रभु वियोग लवलेश समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना

दो० राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिये प्रान
दीनबंधु सुंदर सुखद, शील सनेह निधान ॥

निरूपण (३)

वन-वासिनी सीता (रा. पृ ३००.३८०,४६०,४६१)

अगम पंथ वन भूमि पहारा । करि केहरि सर सरित अपारा
कोल किरात कुरंग बिहंगा । मोहिं सब सुखद प्राणपति संगा
प्रभु करुणामय परम विवेकी । तनु तजि छांह रहत किमि छेकी
प्रभा जाइ कहं भानु विहाई । कहं चंद्रिका चंद्र तजि जाई

दो० सासु ससुर सन मोर हुनि विनय करब परि पांय
मोर शोच जनि करिय कछु मैं बन सुखी सुभाय

निरूपण (४)

इसमें अनेक स्थानों के वर्णनोंका माथितार्थ दिया जाता है ।

घरमें स्त्रीका व्यवहार स्वामिनीके भावनासे कदापि न होना चाहिये । उसे सास, ससुर, गुरुजनकी रुचि को सदैव सन्मान-पूर्वक सम्हालते हुए और उनकी आज्ञा के अनुसार वर्ताव करना चाहिये । (रा. पृ. २२५)

राज-ऐश्वर्य में रहनेपर भी वह ऐश्वर्य अपने पति का (ईश्वर का या गुरुका) ही समझकर, स्त्री ने सदैव सेवा-धर्म को ही स्वीकृत करना चाहिये । घर में कितने ही प्रेमी, उत्साही और बुद्धिमान् नौकर चाकर क्यों न हों, परन्तु पति-सेवाके लिये उसे केवल उन्हींपर निर्भर न रहना चाहिये । बल्कि हल्का काम करने के लिये भी वह सदैव तत्पर रहे

(रा. पृ. ७०९ ।) अपनी बहुओंको उसने 'नयन पलक की नाईं' प्रेमसे सम्हालना चाहिये । (रा. पृ. २३६)

देव-ब्राम्हण, गुरु-संत, अतिथि अभ्यागत और दीन-दरिद्री का सत्कार पति के अनुमोदन से, स्त्रीने स्वयं, अथवा गृह-स्त्रियों द्वारा अधिकारानुसार करते रहना चाहिये (रा.पृ.२३४,२३५,२९२)

समाज शिक्षा ।

गोसांईजी की समाज रचना वैदिक धर्मके तत्व पर स्थापित है:—

वर्णाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग '

(रा० पृ० ७०७)

उनका मत है कि ऐसे स्वधर्मनिष्ठ समाजों का पालक और पोषक (नेता) भी रहना चाहिये—

पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक '

(रा० पृ० ४२१)

इस प्रकार की समाज-रचना से राजा और प्रजा का परस्पर संबंध स्वाभाविकता से ही उत्पन्न होता है ।

अब देखिये, राजा किस प्रकार का होना चाहिये—

'साधु सुजान सुशील नृपाला। इश-अंश-भव परम कृपाला'

(रा. पृ० २६)

गोसांईजी के मतानुसार राजा का अधिकार लोकमतावलंबी ही रहना चाहिये—

'जौ पंचहि मत लागइ नीका। करहु हर्षि हिय रामहिं टीका'

(रा. पृ. २४९)

आगे प्रजा और उसके प्रतिनिधि के ध्येय के विषय में गोसांईजी थोड़ेमें इस प्रकार कहते हैं—

'इति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिविधताप पीड़ित ग्रहभारी'
'पाइ सुराज सुदेश सुखारी।'

(रा. पृ. ३७९)

कारण ये हैं कि—

'सुराज खल उद्यम गयऊ' (रा. पृ. ९००)

'प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजू' (रा. पृ. ५०१)

'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं' [रा. पृ ७१]

'सुराज मंगल चहुं ओरा' (रा. पृ. ३७९)

इ० इ०

इन बातोंसे सिद्ध हुआ कि गोसांईजी स्वधर्मके लिये सुदेश और सुराज्य के समर्थक थे। परंतु वे इतने में ही संतुष्ट नहीं थे। वे कहते हैं कि सुदेश में का सुराज्य भी सुतंत्र चाहिये। इसे उन्होंने इस प्रकार दर्शाया है—

'राजा राम जानकी रानी। आनंद अवधि अवधरजधानी ॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा।'

(रा. पृ. ३५८)

इसका सारांश यह है—(अयोध्याजी की प्रजा कहती है) आनंद की सीमा अयोध्या ही राजधानी रहे, और (हम सब) प्रजाजनों सहित राजा राम और रानी जानकीजी वहां सुबस (सुतंत्र) रहें।

गोसांईजी की इस भावना की उत्कटता कैसी आश्चर्यजनक है वह इस नीचे दिये हुए वर्णनसे स्पष्ट होगी—(रा. पृ. ३५८)

चौ०—एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन लाहू

दो०—गुरु समाज भाइन्ह सहित रामराज पुर होउ।
अछत राम राजा अवध मरिय मांग सब कोउ॥

चौ०-सुनि सनेहमय पुरजनबानी। निंदहिं जोग बिरति मुनि ज्ञानी।
एहि विधिनित्य करम करि पुरजन। रामहिं करहिं प्रनाम पुलकितन

इस वर्णन से दो बातें बड़ी ही महत्व की निकलती हैं। (१) सुतंत्रता के लिये ईश्वरोपासन यही गोसांईजी के मत से नित्यकर्म का हेतु दिखाई देता है।

(२) सुतंत्रता में (अर्थात् सुदेशमें के सुराज्य में की) मरना ही उनके मतसे जीने का सच्चा लाभ है। इस लाभ के विरहित केवल मोक्षाधिकार की प्राप्तिभी उन्हें अभीष्ट नहीं मालूम होती।

यहां तक गोसांईजीने स्वधर्म के लिये सुदेश, सुराज्य और सुतंत्रता की त्रयी लोकशिक्षा की दृष्टि से आवश्यक बतलाई

है। अंत में उन्होंने एक अपूर्व बात निर्दिष्ट की है जो यह है—

जौं अनीति कछु भाषउं भाई। तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई

हम जिसे अपूर्व बात कहते है वह स्वामीजीका यह राजवर्जन है। राजा अनीति सिखलानेवाला हुआ तो प्रजाको क्या हक है यह उन्होंने इसमें बतलाया है।

इस प्रकारसे हमें स्वामीजी स्वधर्म के लिये अपने समाज-शिक्षाशास्त्रकी जो चतुःसूत्री दे गये है वह यह है—

सुदेश, सुराज्य, सुतंत्रता, और राजवर्जन।

पाठकोंको इस चतुःसूत्री का कुछ भी आश्चर्य न मालूम होना चाहिये, क्योंकि वह अकबर बादशाह की चतुर किन्तु कुटिल राजनीति का ही परिणाम है।

वर्तमान मनु (काल) 'स्व'-की तृषा 'सु'-से नहीं बुझ सकती ऐसा कंठरवसे पुकारकर स्वामीजी के उपर्युक्त चतुःसूत्री को इस रूपांतर में उध्दृत करता है—

स्वराज्य, स्वदेश, स्वातंत्र्य और बहिष्कार।

इस विचारप्रणालीके सिद्धता के लिये वह स्वामीजी के ही वाक्यों का प्रमाण इस तरह देता चला जाता है—

सो (भगति) सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना

(पृ. ४५१)

महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी

(पृ- ५०१)

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं सुधर्म निरत श्रुति नीती

(पृ. ७०७)

इ० इ० इ०

उक्त वाक्यों का प्रमाण यथार्थमें बड़ा ही मुल्यवान् है इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु वर्तमान अथवा पुरातन दोनों भी मनु हमें एकसे ही हैं। स्वामीजी के प्रमुख और अटल ऐसे एक ही तत्व पर हमारी दृष्टि अनन्य है। वह तत्व स्वधर्म है, और उसीके हेतु उन्होंने अपनी चतुःसूत्री का पुरस्कार किया है। वह स्वधर्मका तत्व यदि निकाल दिया जाय तो अकेले हिंदुस्थानका ही क्या, उसके समेत प्रत्यक्ष 'सुरपुर' का भी स्वतंत्र स्वराज्य स्वामीजी 'नरक सरिस दुहुं राजसमाजा' लेखते हैं।

राजनीति—शिक्षा

प्रजा-राधक राज्यपद्धति में 'राजनीति' शद्ध का उपयोग केवल एक राजा के संबंधमें ही करना अनुचित है, क्योंकि उक्त पद्धतिमें सभी राज्यकार्य प्रजा की सम्मति पर अवलंबित रहता है। इस लिये राजनीति शद्ध का अर्थ राज्यपद्धति को दृष्टिमें रखकर ही करना उचित है। हम देख चुके हैं कि गोसांईजी प्रजाराधक

राजसत्ता के ही समर्थक हैं। इस लिये प्रजा और राजा के परस्पर संबंध को ध्यान में लाकर उन्होंने अपनी राजनीति एक ही सूत्र में ग्रथित कर डाली है। वह सूत्र यह है—

दो० मुखिया मुखसो चाहिये खान पान कहं एक
पालइ पोषई सकल अंग तुलसी सहित विवेक

चौ० राजधरम सरवस इतनोई। जिमि मन मांह मनोरथ गोई

(रा. पृ. ४२१)

इस सूत्र में राजनीति की रूपरेषा बतला दी गई। अब उस के अंतरंग का विचार उन्होंने किस प्रकार किया है वह देखें—

१ राज्य का कोप ही राजाका सच्चा वल है, वह उसके पास अपरिमित होना चाहिये।

'दशरथ धन लखि धनद लजाहीं' (रा. पृ. ४२५)

२ उस खजानें का और राजाका संवंध 'विनु रागा चंचरीक जिमि चंपक बागा' (रा. पृ. ४२५) की कोटिका होना चहिये।

३ प्रजा के कार्य के विषय में कहा है—

ऊंच नीच कारज भल पोचू। आयसु देव न करव संकोचू
परिजन पुरजन प्रजा बुलाये। समाधान करि सुवस बसाये

४ राजाके अधिकारी वर्ग के विषय में यह कहा गया है—

सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे

(रा. पृ. ४२४)

५ फौज का अत्यंत सूक्ष्म निरीक्षण होता रहे; उनकी कवायदों की परीक्षा वारबार होती रहना ही चाहिये।

(रा. पृ. ७२२)

६ पानी के संचय, निस्तार और स्वच्छताकी योग्य व्यवस्थ रखनी चाहिये। (रा. पृ. ७११)

७ शहरों की रचना, इमारतें, वाग वागीचे और सफाई के विषय में वहुत ही सावधानता रहना चाहिये।

(रा. पृ. ७११)

८ बड़े बड़े बाजार रहें। और उनमें झाडों की छाया और पानी की व्यवस्था रहे। (रा. पृ. ७११)

९ शहर के वाहर मैदान, हवा-खोरी के स्थान और वागीचे स्वच्छ और सुंदर रहें। (रा. पृ. ७११, ७१३)

१० कलाशिक्षाकी और विशेष ध्यान रहे। (मकान और मंडपों के वर्णनों से यह स्पष्ठ दिखता ही है।)

११ राजाको चतुर गुप्तदूतोंका संग्रह अवश्य है। परंतु उसने उनकी सराहना बडी खूबी से, हुशारीसे और मर्यादा से करना चाहिये।

इ० इ० इ०

कर्म और उपासना

गोसांईजी को वेदविहित कर्म और आचार बहुत प्रिय थे। परंतु ऐसा कहीं नहीं दिखाई पडता कि कर्मकांडियों के समान वे कर्मकांड पर ही निर्भर थे। उनका आशय यह दिख पडता है कि देशकालोचित, नित्यनैमित्तिक कर्म 'कायेन वाचा इ०' भागवत धर्मानुसार 'हरिहिं समर्पे' होते जाना चाहिये। परंतु यह कहना पडता है कि उपासना मात्र गोसांईजी का आत्मा है। औरों की तो बात ही क्या, जिन्होंने लोकशिक्षा ही के लिये अवतार धारण किया था, ऐसे श्रीरामजी को भी उन्होंने प्रत्यक्ष शिव-दीक्षा दिलाई है। आध्यात्म अथवा वाल्मीकि रामायण में इस दीक्षा की चर्चा नहीं पाई जाती।

गोसांईजी श्रीरामोपासक समझे जाते हैं, पर हमारे मतसे वे शिवोपासक थे। 'गुरु शंकर रूपिणं' 'सपनेहु साचेहु मोहि पर जौं हरगौरि पसाउ। तो फुर होउ जो कहेउं सब भाषा भनिति प्रभाउ', संकर भजन बिना नर भक्ति न पावइ मोर' इत्यादि प्रमाणोंसे उनकी शंकरोपासना सिद्ध होती है। और फिर यही उपासना उन्होंने अपने सारे काव्य में जगह जगह

भर दी हैं, यह दूसरा आधार हमारे ही मत का पोषक मिला जाता है।

उपासना का जिस तरह का सांप्रदायिक अर्थ लिया जाता है वैसा अर्थ स्वामीजीका बिलकुल नहीं था। उपासना से उनका अर्थ (उप + आसन=समीपवर्तित्व) सेवाधर्म है।

कालिदासजीने 'स्थितस्थितामुच्चलितप्रयातां' श्लोक में के 'छायेव' इस एक ही शब्द से सारी उपसना कह डाली है। वैसे ही गोसांईजीने भी 'भरतहि जानि राम परिछाहीं' में के 'परिछाहीं' शब्द से सुझाई है।

उनकी उपासना की विशेषता यह है कि वे सांप्रदायिकों नहीं बनते। सांप्रदायिक उपासकों को जैसा दुसरे सांप्रदायिकों के लिये तिरस्कार अथवा द्वेष होता है उस तरह की बात इनकी उपासना की नहीं। औरों के समान वे उपास्य मूर्ति के उपासक नहीं हैं, परंतु उपास्य मूर्ति का आत्मा ही उनका उपास्य है। इसी कारण वल्लभादिकों की द्वैतदृष्टि का परिणाम उनपर और उन के अनुयाइयों पर सहसा न हो सका।

मालूम होता है कि वल्लभाचार्य की उपासना का क्रम उन्हें बहुत प्रिय था। यह रामचरितमानस के 'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउं सो दशरथ अजिर बिहारी' इससे ज्ञात होता है।

अब हमारा उर्वरित कथन यही है कि स्वामीजी की उपासना और कर्म का रहस्य जिसे सूक्ष्मता से देखने की लालसा हो

उसने हमारी काव्यसमालोचना में (अयोध्या कांड—गोसांईजी की प्रेम-लहर-स. नं. (३१), तथा गुहवासिष्ठ-भेंट-स. नं. (४२), उत्तरकांड-रामवसिष्ठ संवाद-स. नं. (७) इत्यादि में देखना चाहिये। वहां देखने से प्रतीत होगा कि वह रहस्य यही है:—

'स ईश्वरोऽनिर्वचनीयः।' (नारदभक्तिसूत्र)

अथवा

'God ! thou art love ! I build my faith on that.'
Browning.

वेदान्तमत।

'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः (रा पृ. ४)

'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा
व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना

(रा. पृ. १५)

'झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई'

(रा. पृ. ७६)

'मुधा भेद जद्यपि कृत माया। (रा. पृ. ७३९)

'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परमप्रचंडा
आतम-अनुभव-सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा (रा.पृ.७७०)

'जड चेतनहि ग्रंथि परिगई। जदपि मृषा छूटत कठिनई
तवतें जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।

(रा. पृ. ७६९)

इन सब अवतरणों में जीवब्रम्हैक्य और मायावाद स्पष्ट उल्लिखित है। अतएव यह स्पष्ट है कि वेदान्त—दर्शन में गोसांईजी श्रीशंकराचार्यजी के ही अनुयायी थे। परंतु उनका खिंचाव ज्ञानमार्ग की ओर विशेष रूपसे नहीं दिखता। चाहे अपनी रुचि के कारण हो या देश, काल, स्थिति की अनुकूलता से हो, उन्होंने राम-चरित-मानस में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही प्राधान्य दिया है।

यद्यपि रामानुज अथवा वल्लभ का द्वैतवाद गोसांईजी को इष्ट न था, तौभी उपासना उन्होंने इन्हीं से ही ली है, यह बात नीचे दिये हुए प्रमाणों से सिद्ध होती है।

दो०—करम वचन मन छांडि छल जब लगि जन न तुम्हार।
तव लगि सुख सपनेहुं नहीं किये कोटि उपचार॥

(रा. पृ. ३०६)

दो०—सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

(रा. पृ. ७७१)

यह होते हुए भी, वल्लभ-संप्रदायका शिवविष्णुभेद गोसांईजी को मान्य न हुआ। तात्पर्य यह है कि गीता का निष्काम कर्मयोग

श्रीशंकराचार्यका ज्ञानयोग और वल्लभाचार्यका भक्तियोग, इन तीनों के संयोग से बना हुआ स्वामीजी का यह दार्शनिक योग एक अपूर्व तीर्थराज जैसा निर्माण हुआ है। इसका परिणाम बहुतही शुद्ध हुआ। उनके अनुयाइयों को किसी प्रकार का भिन्न संप्रदाय प्रचलित कर द्वेष फैलाने का अवसर न मिल सका। हम यही उत्कृष्ट लोकशिक्षा का लक्षण समझते हैं।

अंतमें कहना यही है कि कर्म, ज्ञान, और भक्ति का समुच्चयात्मक योग होना असंभव है ऐसी शंका लेने का कोई कारण नहीं। इस समुच्चय को ही पराभक्ति, ज्ञानोत्तरा भक्ति, चौथी भक्ति इ० अनेक नाम दिये गये हैं। सब साधनों की परिपूर्णता यही भक्ति है। अद्वैत सिद्धांत के पुरस्कर्ता श्रीआदि शंकराचार्यजी ने भी अंतमें इसी योग का अवलंबन इसप्रकार किया है:—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

उन्हींके अनुयायी अद्वैतसिद्धिकर्ता श्रीमधुसूदन सरस्वति इस प्रकार कह गये हैं:—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं।
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यंति पश्यंतु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं।
कालिंदीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

इसी मार्गका अवलंब गुसांईजी ने भी इसप्रकारसे किया है—

जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतर्यामी
जो कोसलपति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना

(रा. पृ. ४१६)

उक्त प्रकार से विचारपरिवर्तन भासित होने का संभव है, परंतु वह केवल भास है। वह विचारपरिवर्तन नहीं है, किंतु साधन-परिपाक है। सगुण से (अर्थात् कर्म और उपासना से) निर्गुण (अर्थात् ज्ञान) , और फिर निर्गुण से सगुण, यह साधन परिपाक का क्रम है। यही पूर्णावस्था है, और वही ज्ञानोत्तरा भक्ति कहलाई जाती है। ज्ञानका परिपाक भक्ति में होना यही उसका यथार्थ फल है। श्रीशंकरजी की रामभक्ति इसी प्रकार की है, और उसी को अद्वैत भक्ति कहना चाहिये। वह अतीव दुष्प्राप्य है जैसा कि गीता जीमें कहा गया है—'वासदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' स्वामीजी के 'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ' कहने का आशय भी यही होना चाहिये। भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय में इसी भक्ति की महती गाई हुई दिखाती है। स्वामीजी भी उसे इस प्रकार कहते हैं—(पृ. ७६७, ७६८)

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं
ते जड़ काम धेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी

अस विचारि जे मुनि विज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी

भागवत में भी वही मत इस प्रकार उदित हैं—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यंति ये केवल-बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(भाग. स्कं. १०, अ. १४, श्लो. ४)

भक्ति।

गोसांईजी का जीवनसर्वस्व केवल एक हरिभक्ति ही है। प्रसंगवश उनके मनमें किसी भी विचार का संचार हो तो भी हरिभक्ति का बीज उसमें अवश्य ही रहता है। उनका मनच हे खेल, विनोद, शृंगार, शोक, युद्ध आदि किसी भी कार्य में मग्न हो, भक्ति वहाँ भी उनके साथ अवश्यही रहती है। भक्तिका और उनका ऐसा ही तादात्म्य हुआ था। अब हमें उनके ग्रंथ से देखना चाहिये कि उन्होंने भक्तिको ही सारसर्वस्व क्यों माना?

रामचरितमानस में भक्ति की व्याख्या कहीं भी दिखलाई न पडी। तौ भी संपूर्ण ग्रंथ के निरीक्षण से ज्ञात होता हैं कि अनन्य, अहेतुक, अविरल और अविचल भगवत्प्रेम को उन्होंने भक्ति समझी है।

कोई कोई विद्वानोंका मत है कि 'पूज्येष्वनुरागः भक्तिः' यह नारदभक्तिसूत्र की व्याख्या लेकर गोसांईजीने उसे 'पूजनीय प्रिय परम जहांते। मानिय सबहिं रामके नाते' इस प्रकार दर्शित किया है। परंतु इस से समाधान नहीं होता। 'पूजनीय प्रिय इ० में 'पूज्येषु' इ० व्याख्या का अंतर्भाव माना जायगा,

परंतु वह व्याख्या नहीं हो सकती । मान भी लिया जाय कि 'पूजनीय प्रिय' इ० उक्ति 'मातृ देवो भव', 'पितृ देवो भव' इन श्रुतिवाक्यों के प्रणाली से रचित है तोभी उक्त श्रुतिवाक्य जैसी भक्ति की व्याख्या नहीं हो सकते हैं, वैसे 'पूजनीय प्रिय' इ० उक्ति भक्ति की व्याख्या नहीं हो सकती । हमारे मत से 'पूजनीय प्रिय' इ० उक्ति उक्त श्रुतिवाक्यों के अनुसार केवल साधनमार्गदर्शक ही समझना चाहिये ।

'पूजनीय प्रिय' इ० उक्ति साधनमार्गदर्शक है इस बातका विचार भी यहीं हो जाना ठीक है, क्यों कि उसमें से एक अत्यंत महत्त्वका प्रमेय निष्पन्न होगा—यदि किंचित् विषयांतर भी हो, तो वह दोष क्षम्य होगा । पूज्य, प्रिय और श्रेष्ठ ये सब नातें होने के कारण वे केवल प्रावृत्तिक (प्रापंचिक अथवा व्यावहारिक) समझना चाहिये । अत एव उनका प्रेम या आदर प्रावृत्तिक ही कहलाया जायगा, और उनका उत्तम से उत्तम परिपाक गीताजी के अनुसार 'यांति देवव्रता देवान्पितृन्यांति पितृव्रताः' इससे बढ़कर कभी भी नहीं हो सकेगा । इसी कारण वे परमार्थके स्वरूप में नहीं आ सकते हैं । यदि उन्हें पारमार्थिक स्वरुप देना हो तो उनका प्रापंचिकत्व नितराम् निःशेष करनेका साधन करना होगा । द्रव्यकी औषधि बनाने को जैसी रासायनिक क्रिया, औषधि को जैसा अनुपान, अथवा धातू को जैसा उपसर्ग उसी प्रकारका यह साधनप्रयोग है । 'सब मानिअहि' राम के नाते' यही वह साधनप्रयोग है । इसका भाव ऐसा कि प्रापांचिक प्रेम को ईश्वर के (वा गुरु के) नाते से

मानने से ही गीतावाक्यानुसार 'यांति मद्याजिनोऽपि माम्' यह अंतिम फल प्राप्त हो सकेगा। सारांश प्रपंच हरिप्रेममूलक होने से वह स्वयं ही परमार्थ हो जाता है। साधनमार्गदर्शक कहने की यथार्थता अब स्वयंही दिख जायगी।

गोसांईजी ने भक्ति की स्वतंत्र व्याख्या अपनी रामायण में कहीं भी दर्शाई नहीं है। परंतु उसके कारण उनके ग्रंथ को कुछ वैगुण्य नहीं पहुंच सकता। मुख्य भक्ति के पक्ष में जितना कुछ कहना अवश्य था उतना सब वे कह चुके हैं—फिर उन्होंने भक्ति की व्याख्या की तो क्या, और न की तो भी क्या। मुख्य प्रयोजन (१) भक्तिका तात्विक स्वरूप, (२) उसकी उपयुक्तता, और (३) उसके साधन इन बातों से ही है। इन विषयों में गोसांईजी के मत कैसे हैं सो अब देखेंगे।

[१] भक्तिका तात्विक स्वरूप

हम समझते हैं कि स्वामीजी ने भागवत की भक्ति का तत्व अपनी रामायण में लिया है। इसलिये प्रथम यहां भागवत में की भक्ति का शुद्ध स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये।

भगवान् श्रीनृसिंहजी के प्रल्हादजीसे वर मांगने को कहा। उसपर प्रल्हादजी ने यह कहा—(भाग. स्कं. ७, अ. १०)

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥ ४ ॥
आशासानो न वै भृत्य-स्वामिन्याशिष आत्मनः।

न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः ॥ ५ ॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वंच स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ ६ ॥
यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो आपसे वैभव की आशा रखता हो वह भृत्य ही नहीं—वह वनिया (व्यवहारी) है । अपने स्वामी से वर की (कृपा की) इच्छा रखनेवाला भृत्य ही नहीं है, और भृत्यपर अपना स्वामित्व स्थापित करने के हेतु से वैभव देने की इच्छा करनेवाला स्वामी ही नहीं है । मैं आपका निष्काम भक्त हूं, और आप मेरे निष्काम स्वामी हो । राजा-सेवक का संबंध जैसा अर्थापेक्षी होता है वैसा आपका और मेरा कदापि न हो । हे वरदश्रेष्ठ भगवन् ! जो आप मुझे कामपूरक वर देना ही चाहते हो तो मैं आप से यही वर मांगता हूं कि मेरे चित्त में कोई भी वासना अंकुरित ही न हो ।

उपर्युक्त भाषण का हृद्गत हमारी दृष्टिसे 'अहंत्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वंच स्वाम्यनपाश्रयः' में ग्रथित है । 'अहंत्वकामस्त्वद्भक्तः' इस पद के अनुसार सेवक को स्वामी से स्वामीभक्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई भी आशा न रखनी चाहिये । अर्थात् निरपेक्षता ही सेवक का परम धर्म हुआ । सेवक को स्वामी की कृपा अथवा अवकृपा दोनों की भी परवा न करनी चाहिये । उसी तरह स्वामी भी सेवक पर निरपेक्ष प्रेम करनेवाला ही होना चाहिये । 'अनपाश्रयः' शब्द के अनुसार स्वामी को सेवक से सेवा की भी

इच्छा अपने मन में नहीं रखना चाहिये। इसका अर्थ यही हुआ कि स्वामी और सेवक दोनों पूर्ण स्वावलंबी बने रहें और परस्पर एक दूसरे पर निःस्वार्थ प्रेम करते रहें।

ऐसा स्वामी सेवक-संबंध और उसका एक दूसरे पर निःस्वार्थ प्रेमाविष्कार, पूर्ण स्वावलंबन रखते हुए, प्रायः असंभव ही जान पडेगा, क्योंकि इन दोनों में परस्परानुबंध कोई भी भाव नहीं दिखाई देता परंतु हमारी दृष्टिसे वह अवश्य ही संभवनीय है। इसका कारण यह है कि ऐसे सेव्य-सेवकों में एक विलक्षण सामान्य-धर्म रहता है, और उसीका बलिष्ठ प्रभाव दोनों को भी दबाता रहता है। यह सामान्यधर्म उनकी परस्परविषयक कृतज्ञता है। इसी कृतज्ञता के कारण सेव्यसेवक सहृदय (समरस) बन जाते हैं। इस बातके प्रमाण में नीचे के श्लोक विचारणीय हैं-(भाग. स्कं. ९, अ. ४)

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ ६३॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैःसाधुभिर्विना।
श्रियं चात्यंतिकीं ब्रम्हन्येषां गतिरहं परा॥ ६४॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ ६५॥

'अहं भक्तपराधीनः' और 'कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' से सेव्यकी कृतज्ञता, और 'येषां गतिरहं परा' और 'ये दारागार' इ० से सेवककी कृतज्ञता पूर्णतासे स्पष्ट होती है।

ऊपरका भक्तिरहस्य स्वामीजीने इन प्रकारोंसे अपनी कविता में उतारा है —

सेवकका नैरपेक्ष्य

प्रयागराज को भरतजी की विज्ञप्तिः— (पृ० ३६०)

जानहु राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही
सीतारामचरन रति मोरे। अनुदिन बढउ अनुग्रह तोरे
जलद जनम भरि सुरति बिसारे। याचत जल पवि पाहन डारे
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढे प्रेम सब भांति भलाई
कनकहिं बान चढे जिमि दाहे। तिमि प्रियतम-पद नेम निबाहे

यह वर्णन सेवक की निरपेक्षता बतला कर उसकी अनन्यता, अहेतुकता, और अविरल तथा अविचल स्निग्धता जतलाता है, इसपर विशेषता से ध्यान देना चाहिये।

सेव्यका नैरपेक्ष्य

सुतीक्ष्णजी की रामजी को वरयाचना—(पृ० ४४६)

दो०—अनुज जानकी सहित प्रभु चाप-बान-धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम॥

सेव्यसेवकों की परस्पर कृतज्ञता

रामभरद्वाज-संवाद—(पृ० ३०६)

भरद्वाजजी कहते हैं—

दो०—करम बचन मन छांडि छल जब लगि जन न तुम्हार
तब लगि सुख सपनेहुं नहीं किये कोटि उपचार॥

रामजी का उत्तर—

चौ०–सो बड सो सब गुन-गन-गेहू । जेहि मुनीस तुम आदर देहू

ऐसा संवाद होते होते ('मुनि रघुबीर परसपर नवहीं । बचन अगोचर सुख अनुभवहीं ।') देव और भक्त परस्परों के देवतार्चन बने और 'यतोवाचो निवर्तंते' ऐसे आनंद-समाधि में निमग्न हुए।

इस निरूपणका तात्पर्य यह कि भजक अपनी कृतज्ञता के योग से जब भज्य से संमीलित होता है, और उसके प्रेमका प्रवाह भज्य की ओर अविचल, अविरल, अनन्य और अहेतुक रहता है ऐसे प्रेमको भक्ति संज्ञा है; और इस भक्ति के परिणाम में भज्य भी भजकगुण-विशिष्ट बन जाता है । स्वामीजी के भक्तिका तात्विक स्वरूप (हृद्गत) हमारी समझ से यही है ।

(२) भक्ति की उपयुक्तता

भक्ति-शब्द से ही भज्यभजकभाव और भज्य की श्रेष्ठता और भजक की कनिष्ठता व्यक्त होती है । इस श्रेष्ठता और कनिष्ठताके भाव का उत्कर्ष जिस प्रमाण से भजक में होता जावेगा उसी प्रमाण से उसके अहंकारका अपकर्ष होता रहेगा । भक्ति का मुख्य प्रभाव यही है । कर्म, ज्ञान, आदि साधनों से अहंकार पर आघात न होकर प्रत्युत उसकी वृद्धि का ही विशेष संभव रहता है । भक्ति प्रारंभ से ही अहंकार को निगलते जाती है । 'मूले कुठारः' की शक्ति भक्तिको छोडकर अन्य कोई भी साधनों

में नहीं पाई जाती। सभी संतों का मत है कि अल्पायासकर (श्रम बचाने वाला) और भूरिप्रद (बहुत लाभकारक) मार्ग यह एक ही है। स्वामीजी यही मत इस प्रकार के स्थापित करते हैं–

छूटइ मल कि मलहि के धोये। घृत कि पाव कोउ वारि बिलोये
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुंकि जाई

भागवत का मत भी ऐसा ही ख्यापित है:—

'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पुरुषनिषेवया॥ (भाग. स्कं ६; अ. १, श्लो. १६)
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

स्कं. ११ अ. १४ श्लो. २०

गीताजी भी उसी मत को पुष्ट करती है–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

अ. ९ श्लो. २५

इन प्रमाणों से भक्ति का अहंकारनिर्दलनपटुत्वरूप (अहंकारको निकालनेवाला) अनितरसाधारण गुण हमारी समझ से सिद्ध हो चुका।

गीताजीने उपर्युक्त मतका निदर्शन कर उसे और भी यह मत जोड दिया है—(अ. ९ श्लो. ३१)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा 'और 'शश्वच्छांतिं निगच्छति 'से भक्ति का क्षिप्रसिद्धिप्रदायित्व (त्वरित सिद्धि पहुंचाना) और भूरिप्रदत्व (अत्यंत लाभदायकता) सिद्ध होते हैं। फिर भी 'न मे भक्तः प्रणश्यति' का तात्पर्य यह है कि अन्य साधनों में जो च्युति की भीति है उसका भक्ति में नामनिशान भी नहीं है। और इसी कारण अन्य योगों में जो हानि का संभव है वह भक्तियोग में कदापि नहीं रह सकता। सारांश क्षिप्रसिद्धि-प्रदायित्व, भूरिप्रदत्व और साधनच्युतिहीनत्व ऐसे तीन विशेष धर्म निष्पन्न हुए। ये तीन धर्म गोसांईजीने तीन प्रथक प्रसंगों में दिखलाए हैं। वे प्रसंग नीचे दिये जाते हैं—

(१) अल्पायासकरत्व

रामजी का लक्ष्मणजीको ज्ञानोपदेश—(पृ० ४५१)

चौ०-जातें वेगि द्रवउं मैं भाई सो मम भगति भगतिसुखदाई

(२) भूरिप्रदत्व

भुशुंडिजी गरुडजी से कहते हैं—(पृ० ७७१)

चौ०-भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा

(३) साधनच्युतिहीनत्व

जनकजी स्वपत्नीसे भरतजीके विषयमें कहते हैं—(पृ० ४०६)

चौ०-साधन सिद्धि रामपगनेहू। मोहिं लखि परत भरत मत एहू

इस अवतरणका अर्थ हम थोडा विशद करना चाहते है । सूत्ररूप मे चौपाई में कहा है कि भरतजी को साधन और सिद्धि दोनों भी रामपद प्रेम ही है । अर्थात् उनका साधन और सिद्धि दोनों एक ही ठहरे । इससे समझना चाहिये कि जितना कुछ साधन बन पड़ा उतनी ही सिद्धि प्राप्त हुइ । इस से यही हुआ कि जितनी भक्ति बन जाय उतनाही वह एक अविनाशी संस्कार हो जाता है । अर्थात् साधनच्युति (साधन से पतन) का प्रश्न शेप नहीं रह सकता । श्रीधरस्वामीजीने भी 'कैवल्यंसम-तपथस्त्वथभक्तियोगः' इस भागवतीय श्लोक की टीका में अपना अभिप्राय इसी प्रकारसे दिखलाया है ।

अवांतर संतोंके अनुसार गोसांईजी भी भक्ति का और एक विशेप धर्म मान्य करते हैं । वह अन्यसाधननैरपेक्षत्व (केवल स्वतंत्र) है । उसे उन्होंने इस प्रकार प्रगट किया है—

चौ०–सो (भगति) सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना

इसी मतको भागवत 'केचित्केवलया भक्त्या' योगसूत्र 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इत्यादि पुष्टि देते हैं ।

यहाँतक जो भक्ति के प्रधान धर्म देखे गये हैं वे ये हैं—

(१) अहंकारनिर्दलनपटुता (अहंकार निर्बीज करने को) रामबाण
(२) अल्पायासकरत्व (काल और श्रम को बचानेवाला)
(३) भूरिप्रदत्व (श्रमके प्रमाणसे अत्यंत लाभदायक)

(४) साधनच्युतिहीनत्व (साधनभ्रष्टताके भयसे मुक्त)
(५) अन्यसाधननैरपेक्षत्व (पूर्ण स्वतंत्र)

भक्ति एवंगुणविशिष्ट होनेसे उसकी उपयुक्तता अर्थात् ही सिद्ध हो चुकी ।

(३) भक्तिके साधन ।

गोसांईजी भक्ति की प्राप्ति के प्रधान साधन इस प्रकार से बतलाते हैं—

(१) प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीती ।
(२) अस विचारि जोइ करसतसंगा । राम भगति तेहि सुलभ विहंगा।
(३) नाम सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल वासा
(४) बिनु हरि भजन न भवभय नासा ।
(५) संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोर ।

अर्थात् विप्रचरणसेवन, सत्संग, नामजप, हरिकथा, और शिवोपासना ऐसे पांच साधन स्वामीजी कह गये हैं ।

बहुधा सभी ग्रंथोंने और संतोंने पहिले चार साधन बतला ये हैं । इसमें स्वामीजीका मतवैचित्र्य कुछ भी नहीं, इस कारण उस संबंध में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं दिख पड़ती ।

अब केवल शिवोपासना का ही थोडा विचार करना है। इस मत के संबंध में गोसाईजीने श्रीमद्भागवत का ही सहारा लिया है ' वैष्णवानां यथा शंभुः ' इस प्रकार भागवत कहती है । इसी

भक्ति को प्राधान्य दे कर और शिववैष्णवों के आपसी दुराग्रहों पर ध्यान पहुँचा कर स्वामीजी ने इस साधन पर यदि जोर दिया हो सो बड़ा ही योग्य समझना चाहिये। कारण उस द्वेपका निवारण उनके लोकशिक्षा के कार्यक्षेत्र में का एक प्रधान भाग था।

अंत में कथन यही है कि स्वामीजी ने भक्ति की विशेपता संक्षेप से परंतु परिपूर्णतासे इस प्रकार कही है—

राम भगति बिनु सब सुख कैसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे

पात्र-परिचय
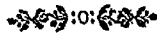
राम-चरितमानस में विशेष परिचय के योग्य पात्र ये हैं—

(१) दशरथजी, (२) कौशिल्या देवी, (३) कैकेयी देवी, (४) भरतजी, (५) रामजी, (६) सुमित्रा देवी, (७) सीता देवी—लक्ष्मणजी, (८) जनकजी—वसिष्ठजी, (९) हनुमानजी, (१०) गुह-अंगद-सुग्रीव—विभीषण, (११) कुंभकर्ण, (१२) मंदोदरी और (१३) रावण.

पहिले ही निश्चित हो चुका है कि तुलसीदासजी का ग्रंथ-विषयक ध्येय लोकशिक्षा है। अर्थात् यह कहने की जरूर नहीं कि उनके पात्र लोकसंग्रहके तत्वोंपर घटित किये जाना अवश्य था। कहना केवल इतना ही है कि इन तत्वों पर नितान्त ध्यान रखने के कारण गोसांईजी को अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में घटित किये हुए कोई कोई प्रमुख पात्र मान्य नहीं हुए। इसी लिये गुसाँईजी को किसी किसी पात्रको सुधारना पड़ा, कोई कोई पर टीका करनी पड़ी, और कोई कोई को कुछ कुछ नवीनता का योग देना पड़ा। इन बातों की सत्यता इस भागके परिशीलन से त्वरित ही प्रतीत होनेवाली है, इस लिये यहाँ उस संबंध में अधिकता से कहनेकी आवश्यकता नहीं।

ऊपर लिखी हुई पात्रसंख्या में सुमंत समाविष्ट नहीं है इसका कारण यह है कि इतिहासकी दृष्टि से अथवा अन्य किसी रीति से उस पात्रको किसी प्रकार का महत्व नहीं पहुँच सकता। एतदर्थ उस पात्रका चरित्रांकन अयोध्याकांड की समालोचना में (स. नं. २० पर) किया गया है। पाठकगण उसे इतनी अल्प अवसर में ही भूले न होंगे।

वैसा देखा जाय तो रामायणीय पात्रोंका परिचय स्वामीजीने अपनी वंदनारूपी प्रस्तावनामें स्वयं ही कर रखा है; परंतु वह केवल ही निष्कर्षात्मक अथवा तात्त्विक स्वरूपसे होनेके कारण पात्रों का पूरा बोध उससे होता नहीं। इस लिये पात्र परिचय के सविस्तर और स्वतंत्र आविष्कार की आवश्यकता हमें दृष्ट हुई, और इसी कारण हमारा यह यत्न है।

विषय-प्रवेश के पूर्व में यह सूचित करना अवश्य है कि इस भाग में पात्रोंका विचार तुलनात्मक किया गया है। तुलना वाल्मीकि और अध्यात्म इन दो रामायणों से ही की जानेका कारण इस काव्यकी रचना के समय स्वामीजी के सामने अन्य कोई समग्र रामायणीय ग्रंथ होने का हमें निश्चय नहीं हो सका।

दशरथ।

प्राचीन और अर्वाचीन सभी कवियोंने दशरथजी को कमी अधिक प्रमाणसे स्त्री-लंपट ही कहा है। यदि उनका कहना इतनाही होता तो हमें विशेष बोलने की जरूरत नहीं थी, परंतु कभी कभी

इसी एक स्त्री-लंपटता के कारण इस पात्र का विपर्यास किया जाता है। हमारे मनसे ऐसा होना सर्वथैव अनुचित है, क्यों कि कैकेईजी की वरयाचना उनके कानपर पड़ते ही स्त्रीलंपटता का उन में नाम निशान तक न रहा; और बाद में उन्हें उसका स्पर्श तक नहीं हुआ। अतएव स्त्रीलंपटता के कारण इस पात्र का विपर्यास किया जाना हमारे मतसे योग्य नहीं।

स्त्रीलंपटता निःशेष दूर हो जाने पर दशरथजी के चरित्र में केवल दो विचारों की प्रधानता दिखाई पडती है—पहिला सत्य-प्रेम और दूसरा पुत्र-प्रेम, । स्त्रीलंपटता से मुक्त हो जाने के बाद इन दो विचारों का जो प्रीतिपड़ाष्टक वही गोसांईजी के दशरथजी हैं—

पदार्थ में जिस गुण का सर्वातिरिक्त उत्कर्ष होता है वही उसकी विशेषता समझी जाती है। यह विशेषता बहुधा प्रमुखतासे एक ही गुण की हुआ करती है उसमें, और दुसरे गुणों की जो उचता दिखाई देती है वह तत्वतः पूर्वोक्त विशेषता की ही आनुषंगिक होती है।

आध्यात्म अथवा वाल्मीकि रामायण में दशरथजी के सत्य-प्रेम की अपेक्षा पुत्र-प्रेम ही विशेष प्रबल दिखलाई देता है। इस कारण उनके दशरथ की विशेपता पुत्र-प्रेम ही कही जावेगी।

स्वामीजी के दशरथजी का चरित्र बिलकुल ही भिन्न है। उन्होंने उसे इसप्रकार चित्रित किया है—(पृ० १९)

सो०—बंदउं अवधभुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

इसमें हमें स्वामीजी का यह अर्थ दिखता है—सत्य और रामपद में (समान) प्रेम होने के कारण राम-वियोग होते ही अपना प्रिय देह जिन्होंने तृणवत् त्याग दिया उन अयोध्याधीश दशरथजी को मैं प्रणाम करता हूं। स्वामीजी के इस चित्रण में सत्यप्रेम और पुत्रप्रेम दोनों उत्कर्ष दशरथजी के देहावसान के लिये समानता से कारणीभूत हुए ऐसा गोसांईजी का आशय स्पष्टता से दिखाई देता है। अतएव उनके दशरथजी में सत्यप्रेम और पुत्रप्रेम की दो विशेषताएं मानना अपरिहार्य होता है। इन दो विशेषता के कारण उनके दशरथजी को कल्पनातीत महत्व प्राप्त होकर उनका चरित्र आदर्शभूत हुआ है। इस मत की सत्यता के निदर्शन का अब यहीं से प्रारंभ होगा।

अध्यात्म रामा. अयो. कां. स ३, श्लो. ६९

स्त्री-जितं भ्रांत-हृदयमुन्मार्गपरिवर्तिनम्।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तद्भवेत्।
एवं चेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनंदन॥

दशरथजी की यह उक्ति पश्चात्ताप की है। वे रामजी से कह रहे हैं कि उन्हें कैद कर रामजी स्वयं राज्य करें, जिससे उन्हें पिताज्ञा-भंग का पाप तो लगेगा ही नहीं, किंतु दशरथजी अनृत भाषण के पापसे भी बच जावेंगे। रामजी ने उस ओर दुर्लक्ष ही

किया, क्योंकि दशरथजी पुत्र-वात्सल्य के कारण 'भ्रांत-हृदय' बनकर उन्हें पुत्रधर्म से च्युत किया चाहते थे।

वाल्मीकि रामायण अयो. कां. स. ३४ श्लो. २६

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥

धर्मशास्त्रीपना का ढंग छोडकर बाकी के ये दशरथजी भी अध्यात्म के दशरथजी की ही एक दूसरी प्रति हैं।

ऊपर के दोनों दशरथों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर दिख पडेगा कि उनका सत्य-प्रेम पुत्र-प्रेम के सामने बिलकुल ही लज्जित हो गया; अतएव उनकी धर्मनिष्ठा धूर्तता से अर्थात् ही कलंकित हो गई। गोसांईजी को ऐसे विरूप दशरथजी नहीं भाये, और इसी से उनको वे (दशरथजी) असह्य हुए। लोकशिक्षा की दृष्टि से उनको 'प्राण जाइ बरु बचन न जाई' ऐसे दशरथजी की आवश्यकता थी। इसलिये उन दोनों दशरथों में का पश्चात्ताप से पूर्ण भरा हुआ केवल हृदय ही लेकर, उसे उन्होंने असामान्य और लोकमान्य स्वरूप में ला रखा। उनके वे दशरथजी ये हैं:—

(रा पृ. २९०–२९१)

चौ०

सुनि सनेह बस उठे नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाहा
सुनहु तात तुम्ह कहं मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फल हृदय विचारी

करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सब कोई॥
दो० अउर करइ अपराध कोउ, अउर पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंतगति को जग जानइ जोगु॥
चौ० राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी॥

अब कोई भी देख लेवे कि इन तीनों दशरथों में से गोसांईजी के दशरथजी में मनलज्जा, जनलज्जा सत्यप्रियता, पिता-पुत्र की मर्यादा, रामसंबंधि आदर और प्रेम, कैकेई के चिडजाने का भय आदि के भाव कैसे मनोहर और मार्मिक रीति से दिखलाये गये हैं। लोकशिक्षा का तत्व यहाँ अंतप्रोत भरा हुआ एकदम नजर में आ जाता है। निरीक्षण और वर्णन की गोसांईजी की यही खूबी है।

दशरथजी के चारित्र्य का संक्षिप्त किन्तु सच्चा रहस्य गोसांईजी ने नीचे की दो 'चौपाइयों में बहुतही प्रेक्षणीय और मार्मिक रीतिसे भर दिया है—(पृ. ३३१)

'जियत मरन फल दशरथ पावा। अंड अनेक बिमल जस छावा॥
जियत राम-बिधु-बदन निहारा। रामबिरह मरि मरन संवारा॥ ×

अब इस चरित्रवर्णन के सौष्ठव में किस बातकी न्यूनता रही ? कैसी असाधारण धारणा परमेश्वरने स्वामीजी ,को दी सो उसका वही जाने !

× श्रीरामजी के मुखचंद्र के दर्शन से ही दशरथजी जीते रहे। और वह दर्शन बंद होते ही स्वयं मर कर उन्होंने मृत्युको सुशोभित किया।

कौशिल्या-देवी।

इस पात्र का इच्छानुसार परिचय कर लेने के लिये सारी रामायणमें मुख्य तीन प्रसंग हैं:— (१) राम-वन-गमन-प्रसंग, (२) दशरथ-निधन-प्रसंग, और (३) भरत-कौशिल्या-संवाद।

आध्यात्म की राम-वन-गमन-कालीन कौशिल्या देवी कहती हैं—(अयो. कां. स. ४)

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः।
पित्राज्ञप्तो वनं गंतुं वारयेहमहं सुतम्॥ १२॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लंघ्य नृपवाक्यतः॥
तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम्॥ १३॥

वाल्मीकि रामायण की वही देवी कहती हैं—

(अयो. कां. स. २१)

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथाप्यहम्।
त्वां नाहं नानुजानामि न गंतव्यमितो वनम्॥ २५॥

....

अहंप्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्।
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्॥ २८॥

उपरि-निर्दिष्ट श्लोकों का सारांश यह है कि उन दोनों रामायणों में भी कौशिल्या देवी अपने मातृत्व का अधिकार

स्थापित करके और आत्महत्या कर भय दिखला का रामजी को पित्राज्ञा-से पराङ्मुख करने का प्रयत्न करती है। वाल्मीकि में की कौशिल्या देवी तो एक कदम आगे ही बढ़ गई है, क्यों कि वह रामजी को घोर नरक में डाल ने के लिये भी तैयार हो जाती है। राममाता समझ कर उनका आदर कोई भी करेगा ही, परंतु इन दोनों में से किसी पर कोई भी प्रेम नहीं कर सकता। हर एक के मुख से यही उद्गार निकलेगा कि इनमें से पहिली आत्मघातिनी है, तो दूसरी आत्मघातिनी होकर पुत्रको निरय (नरक)-दायिनी भी है। दूसरों को तो जाने ही दीजिये, स्वयं रामजी को भी ऐसा ही मालूम हुआ। यदि उनके मन में यह कल्पना न आई होती तो उन्होंने दोनों कौशिल्या देवीयोंको स्वयं ही शास्त्रिजी बन कर नीचे लिखे अनुसार उपदेश करने का प्रयत्न ही न किया होता—

अ. रा. अयो. कां. स. ४

त्वमप्येव मयादिष्टं (लक्ष्मणाय) हृदि भावय नित्यदा ॥ ४४ ॥
समागमं प्रतीक्षस्व न दुःखैः पीड्य सेचिरम्
न सदैकत्रसंवासः कर्ममार्गानुवर्तिनाम् ॥ ४५ ॥
यथा प्रवाहपतितप्लवानां सरितां तथा।
चतुर्दश समासंख्या क्षणार्धमिव जायते ॥ ४६ ॥

वा. रा. अयो. कां. स. २४

भर्तुः पुनः परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियः।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसाऽपि विगर्हितः ॥ १२ ॥

वा. रा. अयो. कां. स. २४

राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ ४५ ॥
भर्तारं नानुवर्तेत साच पापगतिर्भवेत्।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥

रामजी का ऐसा उपदेश होने पर भी अपने पूर्व-स्वभाव के अनुसार दोनों कब चल बसेंगी इसका कुछ भरोसा न होने के कारण, लोकशिक्षा की दृष्टिसे गोसांईजी को उन से भय ही मालूम हुआ होगा, और इसी कारण उन्होंने अपनी रामायण में उनमें से एक भी कौशिल्या देवी स्वीकृत नहीं की यह बड़ा ही ठीक हुआ, क्योंकि आगे (पतिके मरते समय) शीघ्र ही दिख जायगा कि दोनों अपने पूर्वस्वभावपर चली गई हैं।

अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण की कौशिल्या देवी के संबंध में गोसांईजी का मन इस प्रकार कलुषित हो जाने के कारण उन्हें उनके ध्येय के अनुसार स्वतंत्र कौशिल्या निर्माण करनी पड़ी। कौशिल्या की योजना उन्होंने इस प्रकार से की कि 'मातु विवेक अलौकिक तोरे। कबहुं न मिटिहि अनुग्रह मोरे' (रा. पृ. ९६।

याना जिसका अलौकिक विवेक-कभी भी नष्ट न हो। अर्थात् जो पतिधर्म और पुत्रप्रेमके विरोध का योग्य न्याय करने वाली, हजारों आघात होने पर भी स्वधर्म से तिलप्राय भी पीछे न हटनेवाली, आपतित आपत्ति का दूरतक विचार करनेवाली, पुत्र को संकट-समय में भी पुत्रधर्मपरही अटल रहने को सिखलानेवाली, दूसरे को किसी तरह का त्रास न पहुंचाते मातृप्रेम निभानेवाली, और आपत्तियों से बादल

फटपडने पर भी धैर्य और विवेक को न छोडनेवाली कौशिल्या ही उन्हें योग्य मालूम हुई । ' जौं सुत कहउं संग मोहिं लेहू । तुम्हरे हृदय होइ संदेहू ' इस एक ही चोपाइसे स्पष्ट है कि रामजी को भी जिस माता के पेट से जन्म लेने में धन्यता मालूम हो वैसी ही कौशिल्या देवी गोसांईजी को अभीष्ट हुई ।

इस प्रकार योजना हो जानेपर गोसांईजी ने अपनी कौशिल्या देवी की प्राणप्रतिष्ठा 'राम भरत दोउ सुत सम जानी' इस बीज-मंत्र से की; और उसके देहका अंगन्यास नीचे दिये हुए मंत्रों से किया:—(२७८, २७९)

चौ०—तात जाउं बलि कीन्हेहु नीका । पितु आयसु सब धरमक टीका
दो०—राज देन कहि दीन्ह बन मोहिं न सो दुःख लेस ।
तुम्ह बिनु भरतहिं भूपतिहि प्रजहिं प्रचंड कलेस ॥

चौ०—जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बडि माता
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना
पितु बनदेव मातु बन देवी । खग मृग चरनसरोरुह सेवी

तात्पर्य यह है कि लोकसंग्रह के लिये गोसांईजी को वह कौशिल्या देवी पसंद हुई जो रामजी पर के अपने सब हक कैकेई के चरणों पर शांतता और स्वेच्छा से अर्पण कर दे, और जो स्वयं भरतजी की माता और रामजी की कैकेई बन जावे ।

अब यह देखना है कि इस कौशिल्या देवीने स्वामीजी के लोकशिक्षा मे कहाँ तक सहायता पहुँचाई ।

दशरथ-निधन-कालीन कौशिल्या देवी

अध्यात्म—अयो. कां. स. ७

कैकेय्यै प्रियभार्यायै प्रसन्नो दत्तवानन्वरम्।
त्वं राज्यं देहि तस्यैव मत्पुत्रो किं विवासितः ॥ १६ ॥
कृत्वा त्वमेव तत्सर्वमिदानीं किंनु रोदिषि।
कौसल्या—वचनं श्रुत्वा क्षते स्पृष्ट इवाग्निना ॥ १७ ॥
ततः शोकाश्रुपूर्णाक्षः कौसल्यामिदमब्रवीत्।
दुःखेन म्रियमाणं मां किं पुनर्दुःखयस्यलम् ॥ १८ ॥
इदानीमेव मे प्राणा उत्क्रमिष्यंति निश्चयः।

वाल्मीक—अयो. कां.

सर्ग ६१

तत्रत्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः।
न वनं गंतुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥ २५ ॥

सर्ग ६२

सात्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

× × ×

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम्।
पुत्र शोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

यह स्पष्ट है कि अध्यात्म रामायण की कौशिल्या देवी इदानीमेव ' इन शब्दों से दशरथजी की मृत्यु को और निकट लाने में कारणी-भूत हुई इस लिये उसे पतिघातिनी कह सकते हैं।

वाल्मीकि रामायण की कौशिल्या देवी अभिष्ट सरीखी यद्वातद्वा बोल तो गई, परंतु उसने शीघ्र ही अपने को सम्हाल लिया। अतएव उसे एक प्राकृत स्त्री कहने में कोई हानि नहीं दिख पड़ती।

अब गोसांईजी कि कौशिल्या देवी देखिये:—

(रा. पृ. ३३०)

'नाथ समुझि मन करिय विचारू। राम वियोग पयोधि अपारू
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय बनिक समाजू
धीरज धरिय तो पाइय पारू। नाहिंत बूडिहि सब परिवारू
जो जिय धरिय विनय पिय मोरी। राम लखन सिय मिलहिं बहोरी

यह कौशिल्या देवी अपने पति को स्वधर्म और राजधर्म का ऐसा गंभीर उपदेश करती हुइ उनके मन को प्रोत्साहन दे रही है। 'तुम हम जिंदे हैं तो राम, लक्ष्मण, सीताकी क्यों न्यूनता हो?' ऐसा धैर्य देकर उन्होंने अपने पतिव्रता धर्म की पराकाष्ठा की। स्त्रीधर्म का तत्व इसी ने जाना। यही कारण है कि प्रत्यक्ष श्रीरामजी को भी इसके गर्भवास में आना बैकुंठ से भी अधिक श्रेयस्कर और सुखकर जान पड़ा।

धन्य इस माता का गर्भ, और धन्य वे गोसांईजी कि जिन्होंने ऐसी माता का गर्भ ढूंढ़ निकाला!

अब भरतजी से भाषण करते समय की कौशिल्या देवी के दर्शन करेंगे।

वाल्मीकि रामायण की कौशिल्या देवी आरंभ में ही

'इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकंटकम्'

(अयो. कां. स. ७६, श्लो. ११)

ऐसे कुत्सित शब्दों से भरतजी के कोमल और पहिले ही कैकेई द्वारा दुःखाये हुए हृदय पर कठोर प्रहार करने लगती हैं। परंतु फिर अत्यंत व्याकुलता से उचारी हुई भरतजी की अनेक शपथों को सुनकर होश में आती हैं। अतएव इस प्रसंगमें भी वे प्राकृत ही ठहरती हैं।

अध्यात्मकार की इसी प्रसंग की कौशिल्या देवी सचमुच में आश्चर्य करने लायक है, क्योंकि वे भरतजी से इस तरह प्रेम और गंभीरता से मिली हैं—(अयो. कांड. स. ७)

सापि तं भरतं दृष्ट्वा मुक्तकंठ रुरोदह ॥ ८२ ॥
पादयोः पतितस्तस्या भरतोऽपि तदारुदत् ।
आलिंग्य भरतं साध्वी राममाता यशस्विनी ॥ ८३ ॥

अध्यात्म संहिता के संबंध में साशंक होना ठीक नहीं। परंतु निरुपाय से कहना पडता है कि प्रत्यक्ष अपने पति के अंतसमय जिसके हृदय को अल्प भी द्रव न दिख पड़ा उसका वही हृदय भरतजी को देखने पर इतना द्रवीभूत कैसा हो सका? हम समझते हैं कि स्वामीजी को भी यह शंका उठी थी और इसी कारण उन्होंने ऊपर लिखे वर्णन में से 'राममाता' इतना ही सूत्रमात्र ले लिया. और

उसके योग्य अपना वार्तिक बना लिया जिस कारण उनकी कौशिल्या देवी प्रारंभ से अंत तक 'राममाता' कहलाइ जा सकती है।

अब गोसांईजी की कौशिल्या देवी का दर्शन लीजिये और देखिये, क्या भावना होती है—(पृ. ३३७, ३३८)

चौ०—भरतहिं देखि मातु उठि धाई। मुरछित अवनि परी झइ आई

× × ×

सरल सुभाय माय हिय लाये। अतिहित मनहुं राम फिरि आये
भेटेउ बहुरि लषण-लघु-भाई। सोक सनेह न हृदय समाई
देखि सुभाउ कहत सब कोई। राम मातु अस काहे न होई

अब अध्यात्मकार, वाल्मीकिजी और स्वामीजी तीनों की भी कौशिल्या देवी पाठकों के सन्मुख है। हमें विश्वास है कि इन तीनों कौशिल्या देवीयों में से भरतजीको देखते ही 'अति हित मनहुं राम फिरि आये' समझनेवाली ही 'राममाता' कहलाई जायगी, और वही सबका सिर अपने पैरों पर झुका लेगी। हम समझते हैं कि इसी कारण स्वामीजी ने भी अपनी वंदना में वंदन का अग्रमान उसी को दिया है।

कैकेयी.

रामचरित्र का जिसको परिचय है उसको कैकेयी देवी का परिचय न रहना असंभव है। फिर भी सभी रामायणों में उन का चरित्र समान है। इन कारणों से उनके चरित्र का परिचय

कराने की वस्तुतः अवश्यकता नहीं है। परंतु उनके विषय में मतांतर देखने में आते हैं। इस कारण हमें भी अपना मत स्पष्ट करना जरूर है।

हमारे मतसे रामायणीय इतिहास के दृष्टि से कैकेयी देवी को विशेष कुछ चारित्र्य ही नहीं, और यदि कुछ हो तो वह उनके देवमायासे विमोहित होने के पहिले ही समाप्त हो चुका, और भरतजीके रामदर्शन निमित्त वनसंचार में पुनरुज्जीवित हुआ। इन दोनों भी ओर की कैकेयी देवी निभ्रांत निर्दुष्ट है। रही सो विचली देवीजी। उन्हें चारित्र्यवाली समझकर वे सदोष ठरहाई जाती हैं।

हमारे मत से इस देवीजी को कैकेयी कहना ही भूल है, और इसी कारण उन्हें पात्रकी दृष्टि से देख कर उनके दोषोंका विचार करना अनुचित है। स्वयं स्वामीजी ही कहते हैं कि 'वातुल भूत विवस मतवारे। ते नहिं बोलहिं वचन संभारे'। तो फिर ईश्वरकी अघटित घटना से जो विमोहित हुई उसको कोई भी क्रिया के लिये वह जबाबदार कैसी समझी जा सक्ती है? अर्थात् विचारी कैकेयी देवी पर दोषारोप करना केवल अमानुषता का लक्षण है। भरद्वाजजी भरतजी से भाषण करते हुए कह गये हैं कि 'तात कैकयि हि दोष नहीं गई गिरा मति धूति' इस भाषणकी दृष्टि से भी कैकयी देवी को सदोष कहनेवाला स्वयं ही सदोष हुआ जाता है।

हमारे मतसे 'आदावंतेच यन्नास्ति वर्तमानेऽपितत्तथा' यह वेदान्तन्याय कैकयी देवी के पक्ष में बिलकुल ही सही है।

कैकयी देवी के चरित्र के संबंध में वृथैव 'भवति न भवति' करते रहनेकी अपेक्षा सभीने उस के सन्मुख नतमूर्ध होकर उस के उपकार मनाने के लिये श्रीरामजी का ही इस प्रकारसे अनुकरण करना उचित होगा—

तातस्नेहो भरतमहिमा पौरुषं वायुसूनोः
सख्यश्चापि प्लवगनृपतेः कापि सौमित्रिभक्तिः।
सीताहारं निजभुजबलं वैरिणां वैरिभावः
ज्ञातं सर्वं तव चरणयोर्मातरेपः प्रसादः॥

भरत।

अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणों में भरतजी का वर्णन है तो सही, परंतु गोस्वामीजी के भरत-वर्णन की तुलना में उस वर्णन का होना न होना बराबर ही है। स्वामीजी का वर्णन जिस उत्कृष्टता से अंकित हुआ है उस से पाठकों को यहां तक भ्रम हो जाता है कि अयोध्या कांड के नायक कौन कहलाये जायँगे भरतजी या रामजी? इतना ही तो क्या, किंबहुना पाठकों की कल्पनाका यहां तक भी दौरा हो जाता है कि केवल अपनी गलती सुधारने के लिये ही वाल्मीकिजी संभवतः तुलसीदासजी हो कर

पुनश्च इस संसार को स्वीकृत करते हैं । भावना के प्रादुर्भाव का कुछ नियम ही नहीं; परंतु पाठक कैसा भी सामान्य हो, उसे इतना विश्वास हुए विना तो रहता ही नहीं कि स्वामीजी का भरत-चरित्र यदि इतनी उत्कृष्टता को न पहुंचा रहता तो इस रामचरित मानस का आज जैसा वर्धमान् प्रचार कदापि भी न दिखाई देता । हमारी दृष्टिसे रामचरितमानस का प्राण निःसंशय भरतजी ही है । और वह यदि न होता तो उसका आत्मा रामजी ' एकाकी न रमते ' इस प्रकार बेडी ही विमनस्कता से दिखाई देता ।

अवांतर सब रामायणों में सीता-रामजी की जोडी प्रमुखतासे दिखाई देती है, परंतु इस रामायण में राम-भरतजी की जोडी प्रमुख हुई है; और वह भी ऐसी कि सीता देवी को ' नेपथ्ये ' ही दिखलाने का प्रसंग आ गया है । ' भरत सरिस को राम सनेही । जग जपु राम राम जपु जेहीं ' यह स्वयं स्वामीजीका ही भणित हमारे कथन को प्रमाणित कर रहा है । इसमें किंचित् भी संदेह नहीं कि स्वामीजी का लोकशिक्षा का उद्देश उनके रामजी से यदि अधिकता से न हो तो निश्चय से उनके बराबरीसे तो भी उनके भरतजी ने सुफलित किया है ।

भरतजी के कारण स्वामीजीका परिचय अथवा स्वामीजी के कारण भरतजी का परिचय इस विचार के उपस्थिति तक अयोध्या कांड के मौष्ठव की मंजिल आ पहुंची है इसमें कुछ भी शंका नहीं । इसका कारण यही दिखता है कि इस रामायण के भरत-भाग में

रामरस का अविच्छिन्न पान कर मत्त होने को जितना अवसर मिलता.जाता है उतना अन्य किसी भी रामायणमें नहीं मिल सकता। यह सब गोस्वामीजी के आंदोलन का ही परिणाम समझना चाहिये। उनके आंदोलन द्वारा भरतजी :का हृदय यदि इस प्रकार स्पष्ट न होता, तो सेवाधर्म का हृदय भी कदापि इतना व्यक्त न होता; और मुख्यतः लोकशिक्षा के संबंध में भाषा की अप्रवृत्ति के कारण× सेवाधर्म जो बिलकुल ही अनाथ हुआ जाता था वह कभी भी ऐसा सनाथ होता हुआ न दिखाई देता। इस कारण की दृष्टिसे यदि देखो तो भरतजी और तुलसीदासजी का 'यत्तदोः' के सदृश नित्यसंबंध क्यों न समझा जावे ?

अस्तु। स्थूल दृष्टि से देखने पर भी गोस्वामीजी के अयोध्या-कांड के दो विभाग होते हैं—दशरथनिधन तक पूर्वार्ध, और अवशेष (यानी भरत-चरित्र) उत्तरार्ध। पूर्वार्ध के रामप्रेम को अंधप्रेम कहना कदाचित् समुचित होगा, क्योंकि उसमें रामजी का सत्य (अर्थात आध्यात्मिक) स्वरूप आत्मानुभवी महात्माओं के व्यक्ति-रिक्त प्रायः सभी सामान्य जनताको अविदित था। वह स्वरूप का सर्वसामान्य बोध उत्तरार्ध में हुआ; और रामविषयक अंधप्रेम का रूपांतर प्रबुद्ध वा विवेकी प्रेम में। इस कारण उक्त कांडविभागों को क्रमशः ज्ञानपूर्वभक्ति योग का भाग और ज्ञानोत्तरभक्तियोग का भाग कहना अनुचित न होगा।

× 'कविवृंद उदार दुनी न सुनी।'

उक्त विभागकल्पना का प्रादुर्भाव भरतजी के ही कारण हुआ है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। अयोध्याकांड के रंगभूमि पर यावत् भरतजी का पांव न था तावत् वहां रामविषयक प्रेम में मोहका ही साम्राज्य फैल रहा था। परंतु भरतजी का पांव उसे लगने की ही देर थी कि मोह का साम्राज्य एकदम से नष्ट होकर रामजी के सत्य स्वरूप रूपी स्वराज्य की प्रभा सभी के आंखों में भरने लगी; और तुरंत ही मोह की जगह आनंद छाकर शोकाकुलित सारी अयोध्या

दो०—जरउं सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जु रामपद करइ न सहज सहाइ॥

(पृ० ३५०)

इस प्रकार घरद्वार से उदासीन होकर भरतजी के छत्रके नीचे आनंद से अचल बन कर रामदर्शन के लिये लौट पडी।

अयोध्या छोड़ते तक का वर्णन हमारी समझ से भरतचरित्र का पूर्वरंग है। इस पूर्वरंग का दिग्दर्शन हमने अल्पबुद्धि से बना जैसा कर दिया। अब भरतचरित्र के उत्तररंग की ओर, चलेंगे।

यह उत्तररंग तुलसीदासजी के भाव और भाषारूपी जादू-गरी का एक अजब दृश्य है जिसमें प्रवेश करते कुशल बुद्धि को भी बिलकुल विवश होना पडता है। इस समझ से यहां भरतचरित्र के उत्तररंग का अल्पसा दिग्दर्शन करा देते हैं। रामजी प्रभृति महानुभावोंपर भरतजी के विचार और आचार का

जो परिणाम होता रहा उसका वर्णन इस भाग में है। थोडे ही यत्न से देखने पर इस परिणाम का मूळ तत्व रामजी और भरतजी की परस्पर कृतज्ञता की भावना के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं यही प्रतीत होगा। पश्चात् ऐसा विदित होगा कि उसी भावना के कारण रामजी और भरतजी के सभी परस्पर व्यवहारों को वे परस्परों का ऋण समझते गये, और उस ऋण के उत्तीर्णता में (रामजी और भरतजी) परस्परों को प्रकाश में लाते गये। सारांश इस भाग में भरतजी और रामजी का परस्पर संबंध और व्यवहार ध्वनि-प्रतिध्वनि, क्रिया-प्रतिक्रिया, अथवा पदार्थ और उसकी छया ऐसे ही प्रतीत होते जाते हैं। यही इस उत्तर रंग का अद्भुत रस है जिस से पाठकों को केवल मंत्रमुग्धता प्राप्त होती है।

हमारे कथन की सत्यता जिसे देखना हो उसने विशेष करके भरत-भरद्वाज-संवाद (रा० पृ० ३६१—३६६) से आलोचना करना चाहिये। हमारी दृष्टि से स्वामीजी ने इस संवाद की रचना भरतजी के वनचरित्र की प्रस्तावना समझके ही की है जिससे कि राम-भरतजी के आगामी चरित्रों पर प्रकाश होता जावे। इस संवाद में उन्होंने रामजीका जगत्कर्तृत्व और भरतजीका जगद्गुरुत्व इन दोनों गौप्यों का परिस्फोट बडे ही प्रेम में मग्न हो कर कर दिया जिसके कारण सारा संसार उन्होंने चिरंतन उपकृत कर रखा है।

प्रस्तुतमें हमें भरतजीके जगद्गुरुत्वसे ही प्रयोजन है, इस लिये उसीका विचार यहां किया जावेगा। भरतजीकी प्रशंसा भरद्वाजजीने इस प्रकार की है—

चौ०-

सब साधन कर सुफल सुहावा। राम लषण सिय दरसन पावा
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा।

इसमें भरद्वाजजीने भरतजी को रामजी से भी अधिकतर मान्यवर समझा है, और इसी कारण उन्होंने उनकी (भरतजीकी) निम्न प्रकार से दीक्षा ली सी दिखाती है—

दो०-

तुम्ह कहं भरत कलंक यह हम सब कहं उपदेसु।
राम भक्तिरस-सिद्धि हित भा यह समय गनेसु॥

'भा यह समय गनेसु' इन शब्दों में साफ झलक रहा है कि महात्मा भरद्वाजजी भरतजी को अपना गुरु समझने लगे; और 'सब कहं उपदेसु' इन शब्दों से प्रतीत होता है कि भरत जीकी दीक्षा का उन्होंने वह एक प्रचार सा डाल दिया। प्रचार कहने का कारण यह है कि स्वयं रामजी भी भरसभामें 'भरत कहहिं किये सोइ भलाई' ऐसा प्रथम कहकर थोडी ही देरके बाद 'कहहु करउं सोइ आजु' ऐसी प्रतिज्ञा कर गये हैं। यह

× क्या 'भारती' नामक गोसांईयों में का पंथ सुरु हुआ होगा—

रामजीका भरतजीके अंकित हो जानेका निश्चित प्रमाण है। रामजीके पश्चात् शुकगुरु जनकजी भी 'जो आयसु देहु' कह कर भरतजीके आधीन हो गये हैं। इसके परिणाम में चित्रकूट पर उपस्थित सब ऋषिमुनियों की जमात भरतजा की अनुगामी बन गई। योगवासिष्ठ के नियंता महात्मा रामगुरु वसिष्ठजी का तो कुछ पूछो ही मत उन्होंने 'समुझब कहब करब तुम सोइ। धर्मसार जग होइहि जोइ (तुम्हारे (भरतजी के) विचार, उच्चार, और आचार सब संसार के लिये केवल धर्मरहस्य ही हैं) ऐसा प्रथित करने से भरतजी का जगद्गुरुत्व स्वयं स्वीकृत किया, और सब संसार में प्रस्थापित कर दिया ऐसा ही समझना चाहिये। भरतजी का लोकशिक्षकत्व सिद्ध करने के लिये अधिक प्रमाणों की अपेक्षा क्या अभी भी उर्वरित रह सकती है ?

अब विचार करने की बात यह है कि भरतजी के लोकशिक्षकत्व का उपयोग संसारको कहांतक हुआ। वास्तव में तो ऐसा ही दिखता है कि प्रत्यक्ष गोसांईजो को भी भरतजी के गूढ़ तत्वों का परिचय करा देना कठिनतर जान पड़ा। ऐसा यदि न होता तो वे 'कविकुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम बिनु रघुनाथा' इस तरह अपनी कर्तव्यता का हवाला रामजी पर न

× समाजशिक्षकत्व और समाजनेतृत्व के संबंधमें स्वामीजी के विचार प्रकाशित करनेवाले वर्णनों में से यह एक वर्णन है यह दृष्टि भी संभाव्य है।

डालते। बड़े ही भाग्य की बात कि सत्यसंकल्पके चाहनेवाले श्रीरामजीने उनकी वह पुकार सुनी, और शीघ्रही उनकी सहायता की।

भरतजी का मुख्य से मुख्य तत्व जो स्वामीजी ने सामने धरा है वह 'साधन सिद्ध रामपगु नेहू' है (पृ० ४०६)। यह केवल सूत्ररूप से है। इसका उत्तानार्थ भरतजी का साधन और सिद्धि दोनों रामपद-प्रेम है। दिखने में यह बहुत ही सहल है, परंतु यथार्थ में बड़ा ही अर्थगंभीर है। उसमें हमें नीचे के बड़े ही महत्व के प्रमेय निष्पन्न होते हुए दिखाते हैं —.

(१) साध्य रामपद्प्रेम ही है, न कि रामपद।

(२) भक्ति में साध्य-साधन (यानी प्राप्यप्रापक) भाव का भाग है ही नहीं।

(३) राम-प्रेम जितना उजृंभित हो उतनी ही सिद्धि प्राप्त होती जाती है। इस कारण असमाधान को स्थान ही नहीं।

(४) राम प्रेम ज्यों ज्यों वृद्धिंगत हो त्यों त्यों रामपदका सान्निध्य आप ही आप सुलभ होता जाता है।

भरतजीके आचार में स्वामीजीने समय समय पर ये प्रमेय दिखलाये हैं। इन सबका मंथन करना यहां संभव नहीं। साध्यता

के कारण यहां केवल उस खास प्रसंग को देते हैं जिसमें किये प्रमेय संकलित रुपसे आ चुके हैं । वह प्रसंग प्रयागराज से भरतजी की विज्ञप्ति है—

मांगउ भीख त्यागि निज धरमू । आरत काह न करइ कुकरमू
अस जिय जानि सुजान सुदानी । सफल करहिं जग जाचकवानी
दो०—अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहुउं निर्वान ।
जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आन ॥
चौ०—जानहु राम कुटिल करि मोही । लोग कहइ गुरु साहिब द्रोही
सीता राम चरण रति मोरे । अनुदिन बढउ अनुग्रह तोरे
जलद जनम भरि सुरत बिसारउ । जाचत जल पवि पाहन डारउ
चातक रटनि घटे घटि जाई । बढ़े प्रेम सब भांति भलाई
कनकहि बान चढइ जिमि दाहे । तिमि प्रियतम-पद-नेम निबाहे

(रा. पृ. ३६०)

ये विचार बडी ही उच्च श्रेणी के होने से सामान्यजन-शिक्षा के लिये उनका विशेष उपयोग हो नहीं सकता । बहुधा इस विचार से ही स्वामीजी ने भरतचरित्र में प्राथमिक शिक्षा के पाठ दिये हैं । उनमें के विशेष महत्व के तीन पाठ हम यहां उद्धृत करते हैं:—

पाठ १ ला — पृ० ३४६

गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी । सुनि मन मुदित करिय भलजानी
उचित कि अनुचित किये बिचारू । धरम जाइ सिर पातक भारू

यहां यह कह देना अवश्य है कि, इस पाठका वरतना 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः' इस भागवतीय नियम के अनुसार होता रहे। आशा है कि भरतजी के भाषण के पूर्वोत्तर संदर्भ के और उनके अधिकार के विचार से यह पाठ का वरतना समझ में आ जावेगा।

पाठ २ रा–पृ० ३९५

जो सेवक साहिबहि संकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची
सेवक हित साहिब सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई
स्वारथ नाथ फिरइ सब ही का। किये रजाइ कोटि विधि नीका
यह स्वारथ परमाथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू

इस पाठमें सेवाधर्म का हृदय बतलाया है। उसे विचार पूर्वक देखना चाहिये।

पाठ ३ रा—रा. पृ. ४०८

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिण जग जाना
स्वामि धरम स्वारथहिं विरोधू। वैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू
दो०--राखि राम रुख धरम व्रत पराधीन मोहिं जानि।

(ऐसी स्थितिमें) 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'

(रा. पृ. ४१३)

इस पाठ में सेवा धर्म का स्वरूप और आचार बतलाया गया है। परंतु साथ साथ यह भी कह दिया है कि 'सेवाधर्मः

परमगहनो योगिनामप्यगम्यः '।

इन पाठों का उपयोग भरतजी द्वारा कवि ने किस प्रकार किया हुआ दिखलाया है यह भी समझना आवश्यक है। अतएव इस बात के निदर्शक प्रसंगों में से यहां केवल दो ही प्रसंग देकर इस विस्तृत (और कदाचित् त्रासदायक) वर्णन की समाप्ति करेंगे।

(१) भरतजी श्रीक्षेत्र प्रयागजी को पैदल ही गये। राह में उनका और उनके सहीसों का जो भाषण हुआ वह इस प्रकार था:—

(रा. पृ. ३५९)

' कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइय नाथ अस्व असवारा

इस पर भरतजी कहते हैं:—

राम पयादेहि पाय सिधाये। हम कहं रथ गज बाजि बनाये
सिर भरि जाउं उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा

(२) अयोध्या छोडते समय भरतजी ने सारे राज्य की व्यवस्था की उस समय के उनके उद्गार ये हैं:- (रा. पृ. ३५०)

भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगर बाजि गज भवन भंडारू
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलउं तजि ताही
तौ परिनाम न मोर भलाई। पापि सिरोमनि सांइ दोहाई
करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई

भरतजी के चरित्र का तात्पर्य निकालना कुछ साधारण बात नहीं है। स्वयं स्वामीजी ही कह गये हैं कि कविजन भी भरत चरित्र में चकित हुए हैं, और हो रहे हैं। हमारी स्थूल दृष्टि को उसका तात्पर्य यही दिखता है कि मनुष्यमात्र को जो कुछ मिला है, वा मिलता जाता है, वह सब परमेश्वर का (वा गुरु का) है। मनुष्यमात्र उसका केवल वहिवाटदार (ट्रस्टी) है। ऐसी भावना दृढ़ करना यही उसका आद्यकर्तव्य (पहिली श्रेणी) है। इस कर्तव्यता के करने पर उसका सारा जीवनक्रम ही परमार्थ हो सकता है। मनुष्य ऐसी (ईश्वर सेवा की) भावना को जब भूल जाता है तब उसकी अहंममादि भावना बढ़ती जाती है। वही उसका प्रपंच कहलाता है, जिसके कारण उसका साराही जीवन दुःखमय हो जाता है; इ० इ०।

इस प्रकार काटे के तोल पर सदैव जागृत रहनेवाला पात्र स्वामीजी के भरतजी के अतिरिक्त उनकी या अन्य किसी भी रामायण में उपलब्ध नहीं है। यह विशेषता हम भरतजी की न समझके स्वामीजी की ही समझते हैं। तथापि अपने भरतजी की विशेपता जो स्वामीजीने निर्दर्शित की है वह ऐसी है—

देवि परंतु भरत रघुवर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी
भरत अवधि सनेह ममता की। यद्यपि राम सींव समताकी

(रा. पृ. ४०६)

यह विशेपता स्वामीजी ने जनकजी के मुख में रखने के कारण, ध्यान में रहे कि, उसे विशेष महत्व प्राप्त होता है।

अंतमें कहने का यह कि 'नोद्धवोण्वपि मन्न्यूनः' इस द्वारा श्रीशुकदेवजीने अपने भागवतमें जैसी श्रीकृष्णजी और उद्धवजी की जोडी दिखलाई है, तद्वत् ही 'भरत रामही की अनुहारी' इस उक्ति द्वारा स्वामीजी ने भरतजी और रामजी की जोडी अपनी रामायण में दर्शाई है। हमारे मत से रामजी के जोडी में भरतजी को बिठलाना यही उनके भरतजी के पात्रकी अप्रतिम श्लाघिष्ठता दर्शाना है।

स्वामीजी ने अपने भरतजी का पात्र अत्यंत संक्षेपमें, परंतु परम परिपूर्णता से, और स्वतंत्रतासे इस तरह दर्शाया है—

(रा. पृ. ३६८)

भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम राम जप जेही

और ऐसा होने का कारण यही है कि 'परम गहनो योगिनामप्यगम्यः' ऐसा जो 'सेवा-धर्म' उसकी प्रत्यक्ष मूर्ति स्वामीजी के भरतजी हैं।

राम।

श्रीरामचंद्रजी के चरित्र के विषय में भिन्नमत होना संभव ही नहीं। सभी को वह चरित्र अबतक सर्वश्रेष्ठ दिखता आया है, और आगे भी वह वैसा ही दिखता रहेगा। कहीं कहीं उसकी रम-

णीयता ऊनाधिकता से दिखाई देती है, परंतु इसका कारण कवि के वर्णनचातुर्य में है, न कि रामजी के गुणवैषम्य में। अध्यात्म रामायण में के रामजी विशेष आध्यात्मिक होनेके कारण वाल्मीकिजीके व्यवहार चतुर रामजी के सामने भिन्न रूप में दिखाई देते हैं। यह न तो रामजी का दोष, न कि कविका गुण; यह कार्य-विशिष्टता का परिणाम है। रामजी का चरित्र सभी रामायणों में समान है। तुलसीदासजी के रामजी की भी यही बात है। उनके रामजी का चरित्र प्राचीन ही है, परंतु अध्यात्म और वाल्मीकिजी के दृष्टि का संमेलन करके उसमें तुलसीदासजी ने वल्लभाचार्यजी के श्रीकृष्णजी के प्रेम-वैशिष्टय का योग करा दिया है। उनके 'बंदउ बाल रूप सोइ रामू' इस मंगल से ही यह स्पष्ट होता है। रामचरितमानस के रामजी आध्यात्मिक और व्यावहारिक रहके भी 'रामहिं केवल प्रेम पियारा' तक प्रेमी हुए हैं, इसका सच्चा मर्म हमारी कल्पना से यही है।

स्वामीजी को ऐसा करने का प्रयोजन तो भी क्या था? इस ओर हम अब ध्यान देंगे। केवल लोकशिक्षा की दृष्टिके कारण तुलसीदासजी को श्रीरामजी के गुणवैभव में कृतज्ञता और प्रेम की विशेषता दिखलाना ही श्रेयस्कर जान पड़ा। क्योंकि 'रहत न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरत सयवार हिये की', तथा 'राम सदा सेवक रुचि राखी' ऐसे क्षमाशील, कृतज्ञ और प्रेमी रामजीके अतिरिक्त, लोकशिक्षा का भार अन्य कौन उठा सकेगा?

अब लोकशिक्षा की दृष्टिको छोडकर भिन्न दृष्टिसे देखें। रामजी

के चरित्र का विशेष महत्वपूर्ण भाग रामजीका वनवास चरित्रही है, क्यों कि उनका मुख्य अवतारकार्य वनवास में ही समाप्त हुआ । इस अवतारकार्य में उन्हें वानरादिकोंने अपने प्राणों की भी परवा न करते हुए अमूल्य सहायता की । व्यावहारिक दृष्टिसे इन पशुओं को रामजीसे किसी भी बात की आशा न थी । अरण्य में यावत् वृक्षलताएँ हैं, तावत् वहाँ उनका स्वराज्य अव्याहत चलने ही वाला था । तो फिर उन्हें रामजी के लिये अपने प्रिय प्राणतक अर्पण करने का मोह क्यों हुआ ? केवल बिराध, वाली, कबंध इ० महासत्वोंका बलिदान लेनेवाले रामजीके पराक्रमसे घबराकर वे रामजी के सन्मुख हुए और लांगूलचालन करने लगे, यह कहना बिलकुल ही युक्ति से बाहर है । प्रत्युत राम जी के भयके कारण कहीं खोह गुफा में उन्होंने छिप जाना चाहिये था । परंतु ऐसा तो कुछ भी न हुआ । इसका कारण रामजी के प्रेमी स्वभावके बिना अन्य कुछ भी हो नहीं सकता । यह तो होही नहीं सकता कि अध्यात्मकार और वाल्मीकिजी के समझ में यह बात न आई हो । फिर रामजी के प्रेमी स्वभाव के विषय में वे ऐसे मुग्ध क्यों बने ? हमारे मत से उनके दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण उन्हें रामजी के प्रेमीस्वभाव को विशेष महत्व देने की आवश्यकता ही न जान पडी । स्वानुभव और कार्यविशिष्टता के अनुसार गोसांईजी का दृष्टिकोण भिन्न होनेके कारण उन्हें रामजी का प्रेमी और कृतज्ञ स्वभाव × ही रामचारित्र्य

× इस विषय में स्वामीजीने इस प्रकार कहा है:—[रा. पृ. ३६८]

का प्रधान अंग प्रतीत हुआ। और इस दृष्टिसे अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणमें उन्हें जो न्यूनता दिख पडी, उसकी पूर्ति उन्हों ने अपनी रामचरितमानस में की।

अब और एक स्वतंत्र दृष्टि से देखें। अध्यात्मकार और वाल्मीकिजीके रामजीका ही यदि अपनी रामायणमें गोसांईजीने उपयोग किया होता तो क्या बिगडता? हमारे मत से यदि वैसा किया ही जाता, तो उनके ज्ञानी और व्यवहारी, अतएव रुक्ष, रामजी के सांनिध्य में गोसांईजी के प्रेममय भरतजी को अपना सारा जन्म दुःखोद्विग्नता में ही तेर करना पड़ता। क्योंकि कहां तो अध्यात्म के वेदांती–अतएव संसार से उदासीन रामजी, अथवा वाल्मीकिजी के

चौ०-जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुण्य गुन दोषू
करम प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा
तदपि करहिं सम विषम विहारा। भक्त अभक्त हृदय अनुसारी

इन चौपाईयों में क्रमशः ज्ञानी, कर्मकांडी और भक्त की ईश्वर विषयक भावना दर्शाई है। पहिली भावना से ईश्वर सर्व साक्षी है, परंतु पूर्ण निष्क्रिय बना रहता है। दूसरी भावना में ईश्वर न्याय करने में पूर्णतासे दक्ष हो जानेके कारण उसे किसी प्रकार की सुश्वत छू नहीं सकती। तीसरी भावना परमेश्वर को प्रेम, कृतज्ञता, और औदार्य प्रवण बनाती है। अर्थात् ज्ञानीयों का परमेश्वर जो भी निरुपद्रवी है, तो भी जगत् को बिलकुल ही निरुपयोगी है। कर्म कांडियोंका परमेश्वर जो भी बडा ही सचावटवाला है, तो भी अंत में व्यवसायी [बनिया] ही दिखाई देता है। रहा तीसरा, भक्तों का, जो स्वभावतः ही दयालु और दिलदार होनेके कारण सभीको सदैव सहायता पहुंचानेका ' राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुराण साधु सुर साखी ' इस प्रकार से अपना बीद, चाहे सो क्यों न हो, सम्हालता ही रहता है।

' पितृपैतामहं राज्यं कस्यनावर्तयेन्मनः ' कहनेवाले व्यवहारी अतएव साशंक रामजी, और कहां ये गोसांईजीके ' एकइ उर वस दुसह दवारी । मोहिं लगि भे सिय राम दुखारी ' ऐसी नितान्त प्रेम की मूर्ति भरतजी ! उनके (अध्यात्मकार और वाल्मीकिजी के) रामजी ' द्विर्नाभिभाषते ' कहकर अपनी ही जगह बड़े ही अवष्टंभ से मौनी बन बैठते, और बेचारे गोसांईजी के भरतजी अपने प्रेम की होती हुई विडंबना देख आंखों से अश्रु बहाते रहते । यह दृश्य गोसांईजीको न भाया, और इसी कारण

चौ०-तात तुमहिं मैं जानउं नीके । करउं काह असमंजस जी के
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी
तासु वचन मेटत मन सोचू । तेहि तें अधिक तुह्मार संकोचू
तापर गुरु मोहि आयसु दीन्हा । अवसि जो कहहु चहउं सोइ कीन्हा

दो०-मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउं सोइ आजु ।
सत्य—संध—रघुवर—वचन सुनि भा सुखी समाज ॥

[रा. पृ. २९३, २९४.]

ऐसे द्विगुणित प्रेम से अपनाकर भरतजी के अश्रु अपने पल्लोसे पोंछनेवाले रामजी का उन्होंने आश्रय किया । अब यहीं देख लीजिये कि ' द्विर्नाभिभाषते ' कहकर दूसरे की मृदु आँत बने जैसी मरोडनेवाले रामजी पुरुषोत्तम कहालावेंगे , अथवा अपनी ही आंत की चाहे जैसी मरोड सहकर दूसरे की आंत की मरोड को ' द्विश्चाभिभाषते ' कहकर सुलझानेवाले रामजी पुरुषोत्तम कहलावेंगे ?

अध्यात्मकार और वाल्मीकिजी के रामजी की अपेक्षा गोसांईजी के रामजी जो लोगों की दृष्टि में विशेष सरस दिखाई देते हैं इस के अनेक कारण हैं, जो कि गोसांईजीने अपनी सारी रामायण में फैला रखे हैं, जिनका यहां पूर्णतासे चुनाव करना असंभव है। तो भी इस उद्देश से कि उनके रामजी सबके ध्यान में आ सकें, हम एक महत्व की सूचना यहां कर देते हैं। इन रामजीको यदि सचमुच में देखना हो तो उन्हें उच्च वर्ग के व्यक्तीयों के सन्मुख न देख कर बिलकुल नीच वर्ग के व्यक्तियों से संमीलित होते हुए देखना चाहिये*। उदाहरणार्थ पाठकों से हम दो प्रकरण देख ने की प्रार्थना करते हैं—(१) अयोध्याकांड का गुहकृत नौकानयन (पृ. ३०२) और (२) उत्तरकांड का अंगदप्रसाद (पृ. ७०५-७०६)।

(१) विनोद से विनति करते करते प्रेमातिरेकमें वह जाने के कारण गुह रामजी से अपनी योग्यतासे बाहर परिचय दिखलाने लगा तो भी—

> सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
> बिहंसे करुना-ऐन चितइ जानकी लपण तन॥

प्रेम से लबालब भरा हुआ गुह का प्रिय भाषण सुनकर दया के समुद्र रामजी मुसकाते हुए, सीतादेवी और लक्ष्मणजी

---

* तुलसीरामायण में जो ऐसे प्रसंग हैं उन्हीं में समाज-शिक्षक और समाजनेता के आवश्यक गुण बडीही खूबी से दर्शाये हुए मिलते हैं। ऐसे प्रसंग बहुधा अयोध्याकांड में अधिक हैं। पाठक इस सूचना को ध्यान में रखेंगे।

की ओर देखने लगे। इस वर्णन में रामजी का शब्द-चित्र कैसा प्रेममय और प्रसादोन्मुख हुआ है वह शब्दों से नहीं कहा जा सकता।

(२) अंगदजी 'मरती बार नाथ मोहिं बाली। गयेउ तुम्हारेहि कोछे घाली' कहकर इधर रामजीके चरणोंमे लिपट पडे, तो उधर श्रीरामजी की आखोंसे आँसुओं का अविरल प्रवाह वहने लगा। फिर जरा सम्हलनेके बाद बहुत प्यार से उन्होंने

निज उर माला वसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥

इस दोहा में 'बहु प्रकार समुझाय' कहा गया है। इतनी खुशामद से समझाने का कारण हमें यही दिख पडता है कि रामजी ने अपने अंग पर के वस्त्राभूषण भी दे दिये, तो भी उनका समाधान न हुआ। अब उनकी निजी संपत्ति कहने को केवल एक श्रीवत्स और दूसरा भृगुपदचिन्ह इतनी ही बच गई थी। वह भी वे अंगद को दे देना चाहते थे। परंतु अंगसे संलग्न होने के कारण रामजी का बिलकुल निरुपाय हुआ। अतएव उद्विग्नता से और सकुच से वे अंगद को हर तरह समझाने का प्रयत्न करने लगे।

स्वामीजी के रामजी की इतनी बड़ाई होनेका कारण स्वामी जी ने उन्हें एक अपूर्व कुंजी दे रखीसी दिखाई देती है। अत्यंत कोमल और प्रेमी हृदय यही वह कुंजी है, और नितांत कृतज्ञता

और अमर्याद औदार्य, ये उस कुंजी के कांटे हैं। इस कुंजी से उनके रामजी चाहे जिसके अत्यन्त गुप्त मनोधन का हरण अकल्पित, सहज और बेमालूम प्रकार से करने में कभी नहीं चूकते। यह कुंजी स्वामीजी ने बहुधा श्रीशुकदेवजी से प्राप्त कर ली थी। ऐसा प्रतीत होने का कारण दोनों भी कुंजियां विलकुल एकसी ही हैं। उनमें जो कुछ भिन्नता दिखाई देती है वह कुंजी में नहीं, किन्तु कुंजी लगाने की हतोटी में है। पाठकों को स्मरण होगा कि इस बातको हम अपने 'भक्ति' के व्याख्यान में (लोकशिक्षाका भाग देखिये) प्रमाणित कर चुके हैं।

एक विशेष महत्व का कथन यहां ऐसा है कि स्वामीजी के भरतजी वाल्मीकिजी के भरतजी की सुधारी हुई आवृत्ति होने के कारण, स्वामीजी को वाल्मीकिजी के रामजी का भी सुधार × अपरिहार्य हुआ। क्योंकि वाल्मीकिजी के भरतजी उनके रामजीको अयोध्या लौटाने के लिये प्रायोपवेश करने को उद्यत हुए तोभी उनके रामजी यथापूर्व पक्के करारी ही रहे जैसे कि—

× इस सुधार के बीजभूत प्रमाण स्वामीजीने वाल्मीकिजी के इन श्लोकों से लिया हुआ दिखता है।—[अर. का. स १६]

निश्चितैवहि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता
भरतस्नेहसंतप्ता बालिशी क्रियते पुनः ॥ ३८ ॥
संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणिच
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रल्हादनानिच ॥ ३९ ॥
कदाह्यहं समेष्यामि भरतेन महात्मना
शत्रुघ्नेनच वीरेण त्वयाच रघुनंदन ॥ ४० ॥

लक्ष्मीश्चंद्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥

(वाल्मी. रा. अ. कां स. ११२ श्लो. १८)

यह दृश्य स्वामीजी के रुचिको नहीं भाया । उन्हें जो भाया सो यह कि उनके भरतजी ने उनके रामजी से एक शब्द से भी अपनी इच्छा प्रदर्शित न करके स्वयं रामजीनेही उनकी इच्छा समझ :कर कार्य करना । अन्त में ऐसाही हुआ । स्वयं रामजीही 'अवसि जो कहउ चहउं सोइ कीन्हा' इस प्रकार खड़बड़ाकर बोल उठे, और अपनी प्रतिज्ञा का भंग करने को तैयार हुए । सत्यही है कि वाल्मीकिजी के रामजी इस कलिकाल में क्या काम आवेंगे ! जानबूझकरही वे हैं 'राजाराम' जो बहुत न्यायी और दक्ष हैं । आज हमें चाहिये 'पतितपावन' राम जो कलि-काल के हीनदीन जनों के दोषों को अपने चित्तपर न लावें, प्रत्युत अपनी परमोदार प्रकृती के कारण 'करत सुरत सय वार हिये की' ऐसेही करते रहेंगे । निर्विवाद तत्व यही है कि लोकसंग्रह के लिये दक्षता की अपेक्षा दयालुताही अधिक आवश्यक है ।

स्वामीजी के रामजी का परिचय होने का प्रसंग दैववशात् यदि कवि कालीदासजी को आया होता तो वे स्वयंप्रोक्त 'त्वयि हि परिसमाप्तं बंधुकृत्यं प्रजानाम्' वाक्यका बारंबार उच्चार कर अपनी वाक्साफल्यता के आनंद में कदाचित् अपना देहभान भी भूल जाते, इस प्रकार स्वामीजी के रामजी लोगों के चाहनेवाले हुए हैं । स्वयं

स्वामीजी तो अपने रामजी के संबंध में ऐसी प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि वे (रामजी) केवल एक प्रेमही के बुभुक्षित हैं । अर्थात् ' रामहिं केवल प्रेम पियारा ' इतने में ही उनके रामजी पूर्णता से चरित्रांकित हो चुके थे । परंतु इतना कहकर ही स्वामीजी से रहा न गया, और उन्होंने जोपमें जोर से आव्हान दिया कि ' जानि लेहु जो जाननि-हारा'। बस, यहां चरित्रांकन की हद हो चुकी ।

सुमित्रा देवी.
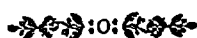
सुमित्रा देवी सदृश स्थितप्रज्ञ स्त्री हमारे मत से सारी रामायण में अन्य कोई नहीं है । सेवक भाव का असली हृदय सत्य में उन्हीं में प्रतिबिंबित हुआ है । प्रत्यक्ष उन्हीका औदर्य (पुत्र) वनवास के लिये एकाएक उद्युत होकर जब उनसे बिदा मांगने आता है, क्या ऐसे समय भी माताने एकदम से उसपर बिछड़ कर ' तुह्मार मात वैदेही । .. सब भांति सनेही । ' इस प्रकार उसकी खबर लेनी थी ? कैसा उनका यह अटल रामप्रेम ! कैसा अयमय (पोलादी) उनका कलेजा ! और कैसा सजावटका और कसवाला उनका सेवक–भाव ! ऐसी माता के स्तन्य पर पले और पुष्ट बने हुए लक्ष्मणजी ' देह गेह-सब सन तृन तोरे ' ऐसे कट्टर रामसेवक क्यों न हों ?

सुमित्रा देवीजीने लक्ष्मणजी को दी हुई विदा का वर्णन इस रामायण में के अत्यंत ऊर्जित प्रसंगों में परिगणनीय हुआ है इतना ही कहना हमारी समझ से अलम् न होगा, क्यों कि उतने मे उन के रामप्रेम का सत्य स्वरूप प्रतीत नहीं हो सकता। उसका सत्य स्वरूप यह है कि वह परमार्थ तत्वों के गर्भिताशय को पहुंच कर उसे खोलता है। यह वर्णन इस दृष्टि से देख कर पाठकों की मनोवृत्ति जैसी होती हो, वे ही देखें। हम तो उसमें यही देखते हैं कि भारतभूमि की आर्ू की रक्षा करने के लिये स्वयं परमेश्वर जब अवतार लेने का संकल्प करते हैं ऐसे समय वे ऐसी उच्च श्रेणीका स्त्रीवर्ग अपने जन्म के लिये आगामी भेज देते हैं। हमारी समझ से ऐसे महानुभाव स्त्रीवर्ग का जो प्रपंच वही सच्चा परमार्थ है, उसका जो सहज और स्वाभाविक भाषण वही शास्त्ररहस्य है, और उसका जो सरल लौकिक आचार वही वैदिकाचारपद्धति है। (इस पात्र का अधिक परिचय होने के लिये पृ ४६-४८ सदर नं. ११ देखिये।)

सुमित्रा देवी का पात्र स्वामीजी नें कैसा सुसंगत रखा है, सो उत्तरकांड में देखने को मिलता है। वह प्रसंग सुमित्रा देवी और लक्ष्मणजी की भेंट है। वास्तव में चौदह वर्ष की अवधि के पश्चात् जिसका प्रिय पुत्र मिले, वह माता किस प्रकार से उस पुत्र की भेंट के लिये आतुर होगी ? परंतु स्वामीजी अपनी सुमित्रा देवी को कुछ और ही, यानी निसर्ग के अतिरिक्त ही, दिखाते हैं। वे कहते हैं—

मैत्री तनय सुमित्रा रामचरन-रत जानि।

स्वामीजीको यदि सुमित्रा देवी असाधारण रामभक्त स्त्री नजर न आती तो वे उससे लक्ष्मणजीका रामभक्त रहना अनुमानित कराकर लक्ष्मणजी से उस को तुरन्तही मिला देते। परंतु उन्होंने 'मानि' न कहके 'जानि' कहा है। इस 'जानि' शब्द से बिलकुल ही स्पष्ट है कि लक्ष्मणजी जब उस की पांय लागी तथा भेंट करने को आये उस समय माता सुमित्राने खुद रामजी को तलब कर के खास कर पूंछा कि आपसे इस लडकेने किस प्रकार वरताव रखा। जब रामजी ने उस के अतुल सेवा की भरपाई की, तब कहीं सुमित्रा देवी लक्ष्मणजी से मिलीं। 'जानि' शब्द में इतना व्यंग्यार्थ अभिप्रेत है। अब देखिये कि—

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भगत जासु सुत होई
न तरु बांझ भलि वादि वियानी। रामविमुख सुत तें हित हानी

ऐसे कलोलसे प्रारंभमें बोलनेवाली सुमित्रादेवी अन्ततक स्वामीजीने कैसी सुसंगत दिखलाई है।

उपरोक्त विधानसे अध्यात्म और वाल्मीकिजी की सुमित्रादेवी इस सुमित्राजीसे कुछ विसंगत है ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं। परंतु इस सुमित्रादेवी के सन्मुख वे जरा फीकीसी दिखाई देती हैं इतनाही हमारा कहना है। और इसका कारण यह कि इस सुमित्राजी के (चरित्र के) चित्रग में कुछ अजवही मसाला स्वामीजीने मिलाया है। वह मसाला तत्वज्ञानके लिये मूलभूत प्रेमप्रचुर

रामोपासना है । उसकी प्रतीति पाठकों को निम्नलिखित अवतरणोंसे अभीही हो जावेगी ।

गुरु पितु मातु बंधु सुर सांई । सेइय सकल प्राणकी नांई
राम प्राणप्रिय जीवन जाके । स्वारथरहित सखा सवहीके
पूजनीय प्रिय परम जहांते । मानिय सकल रामके नाते
....

तुम्हरेहि भाग राम वन जाहीं । दुसर हेतु तात कछु नाहीं
सकल सुकृतकर फल सुत येहू । राम-सीय-पद सहज सनेहू
राग रोष ईर्षा मद मोहू । जनि सपनेहुं इनके वश होहू
तुमकहं वन सब भांति सुपासू । संग पितु मातु रामसिय जासू
जेहिं न रामवन लहहिं कलेशू । सुत सोइ करेहु मोर उपदेशू
छं०—उपदेश यहि जेहि तात तुमतें राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु पुर परिवार पुर सुख सुरति वन विसरावहीं ॥
तुलसी सुतहिं सिख देइ आयसु देइ पुनि आशिष दइ ।
रति होउ अविरल अमल सिय-रघुवीर-पद नितनित नई ॥

इस सुमित्रादेवी को देखकर हमारी कल्पना यही होती है कि लक्ष्मणजी समान तेजस्वी, विरक्त और रामभक्त पुत्रके अनुरूप ही उनको माता चाहिये थी । इसीकारण स्वामीजीने सुमित्रादेवी लक्ष्मणजी से भी कुछ अंशों से अधिक तेजस्वी, विरक्त और रामरक्त चित्रित की है ।

स्वामीजीने 'जानि' शब्दसे सुमित्रादेवी का जो गौरवपूर्वक विवेक दिखलाया है वही उनके सुमित्रादेवी के पात्रका 'जान' (प्राण) है, इतना कहकर इस पात्रका परिचय पूरा करते हैं ।

सीतादेवी—लक्ष्मण ।
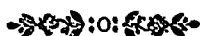
स्वामीजी सीतादेवी और लक्ष्मणजी को एकही कक्षा में लेखते हैं । रामविषयक प्रेम के संबंध में ये दोनों भी पात्र बिलकुल कंधे से कंधा भिडाकर चलने के योग्य हैं । उधर सीताजी को ' वचन वियोग न सकी संभारी ' अर्थात् पतिवियोग इतना शद्व भी असह्य होता है, तो इधर लक्ष्मणजी ' देह गेह सब सन तृन तोरे ' घरद्वार इत्यादि पर तुलसीपत्र धर देते हैं । सारांश ये दोनों पात्र रामजी पर अपने प्राण तक निछावर कर डालते हैं । परंतु रामजी इन दोनों के भी प्रेमको दुराग्रही प्रेम समझते हैं, क्यों कि इन के प्रेम के आंदोलन में से भरतजी के सेवकभाव का प्रमुख तत्व जो ' आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा ' है वही प्रेमांधता के कारण उनके नजर से निकल गया । इसी लिये रामजीने सीता देवी के प्रेम पर ' हठि राखे नहिं राखहिं प्राना ' अर्थात् हठीला अथवा मानी प्रेम की छाप मार दी, और लक्ष्मणजी के प्रेम पर ' जानि सनेह सभीत ' अर्थात् ' प्रेम-कातर ' का सिक्कामोर्तब कर दिया ।

अन्य किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो इन दोनों का चरित्र सभी कवियों द्वारा एक सदृशही अंकित किया गया है । और ऐसा होना बिलकुलही बाध्य था, क्यों कि इन दोनोंके स्वभाव सदैव के लिये निश्चित हो चुके हैं । हठीला प्रेम अथवा कातर-प्रेम

होने का कारण केवल यही है । कहा ही है कि ' स्वभावमन्यथा कर्तुं कः शक्तो देवनिर्मितम् '। परंतु इतनी बात जरूर है कि इन दोनों में से किसी के भी रामप्रेम को और कोई कभी किसी प्रकार नाम रखे तो उसे स्वयंही बदनाम होना पडेगा ।

वास्तव में सीतादेवी और लक्ष्मणजी का रामजी के साथ जो सेव्यसेवक-भाव का संबंध दिख रहा है वह तत्वतः अंगांगी-भाव है, और उसे स्वामीजीने इस प्रकार दर्शाया भी है--

सीतादेवी ।	लक्ष्मणजी ।
प्रभा जाइ कहं भानु बिहाई । कहं चंद्रिका चंद तजि जाई ॥	रघुपति कीरति बिमल पताका । दंड समान भयउ जस जाका ॥

इस दृष्टिसे न तो सीतादेवी और न लक्ष्मणजी रामजीसे पृथक्तया देखे जा सकते हैं ।इसका तात्पर्य यही हुआ कि वे दोनोंभी रामजी में समाविष्ट हैं । अर्थात् यही हुआ कि भक्तिकी भावनासे उन्हें इसी प्रकार देखना अधिक श्रेयस्कर होगा ।

तो फिर सीता देवी और लक्ष्मणजीके प्रेमका स्वामीजीने रामजी द्वारा वर्गीकरण क्यों करवाया ? इस प्रश्नको कोईभी सहजमें सुलझा सकेगा । स्वामीजीका ध्येय यदि लोकशिक्षाका है तो उन्हें हर एक प्रश्न के संबंधमें पृथक् और स्वतंत्र विचार करना कर्तव्यता के दृष्टि से अवश्य है। हमारी समझसे यदि वे इस प्रकार विचार न करते तो उन्हें लोक-दृष्टि से एक तो सांप्रदायिक कहलवाना पड़ता, अथवा कर्तव्य-विमुखता धारण करनी पड़ती ।

वसिष्ठ–जनक।

अध्यात्मकार और वाल्मीकिजी दोनों भी कहते हैं कि वसिष्ठजी चित्रकूटपर पधारे, परंतु जनकजी अपने राजमहलमें ही बैठे रहे। जनकजीने रामजीकी इस प्रकार उपेक्षा क्यों की इस विषयमें दोनों भी मुग्ध हैं। वसिष्ठजी सरीखे ब्रह्मर्षिको व्यवहारोन्मुख, और जनकजी सरीखे अधिराजा को व्यवहार–विमुख देखना और दिखलाना स्वामीजीको बिलकुल ही असह्य हुआ। इस अक्षम्य वैगुण्य को मिटाने के लिये जनकजीसे चित्रकूट पर प्रवेश करवाये बिना वे न रहे।

इस में कुछ भी संदेह नहीं कि चित्रकूट के रंगभूमि पर जनकजी–वसिष्ठजी की जोड़ी का प्रवेश दिखलाने से स्वामीजी को भरतजी के पात्र का अंकन बढचढ कर करने को खूब ही अवसर मिला। परंतु केवल कविकला की दृष्टि से ही हम इस प्रवेश पर ध्यान नहीं देते। उस में हमें लोकशिक्षा का एक अत्यंत उपयुक्त तत्व दृष्टिगोचर होता है, और वह तत्व यह है कि ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानुभव की सजावट और सुंदरता व्यवहारप्रचुरता और प्रेमप्रचुरता के बिना हो ही नहीं सकती।

फलके पकने पर जैसे उस के सब गुण विकासित होते हैं ठीक वही प्रकार इन वृद्धर्षिद्वय का स्वामीजी ने दर्शाया है। अतएव इन दोनों पात्रों का वर्णन साद्यंत पढ़ने की हार्दिक प्रार्थना हम

पाठकों से करते हैं।

वसिष्ठजी ओर जनकजी के पात्रोंके चरित्रका रहस्य 'सो-ह न रामप्रेम बिनु ज्ञाना' ही है, जो कि भागवतमें 'नैष्कर्म्यमप्य-च्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनं' इस प्रकार से प्रद-र्शित है।

श्रीहनुमानजी।

अध्यात्मकार और वाल्मीकिजी के हनुमानजी की अपेक्षा गोसांईजी के हनुमानजी हमें बहुतही सरस ज्ञात होते हैं इसका कारण वे बडेही राजकारणी और धुरंधर दिखाए गये हैं। लंका में प्रविष्ट होतेही उन्होंने वहां के घरद्वार, बाडेमहल, कोटकिले, रस्ते-गलियां, मैदानअखाडे इत्यादि की चप्पा चप्पा टहल कर ली, और केवल अपनी बुद्धिचतुरता से बिभीषण से मिलकर तथा उसे मीठी और मजेदार बातों से बहला कर योंही फोड़ लिया। वहां से जो निकले तो बिभीषण से पाये हुए पते से वे सीधे अशोकवाटिका में वहीं पहुंचे जहां कि सीतादेवी स्थित थी। वहां उन्होंने रावणकी धृष्टता और दुष्टता का, और सीतादेवी की निष्ठा और सत्यता का दृश्य अपनी आंखों से देखकर सब प्रकार प्रमा-णित कर लिया। फिर रावण वहां से निकल पड़ा तो इन्होंने सीतादेवीसे परिचित होने का काम शुरू किया। यह काम उन्होंने

बड़ेही ढंग से और मर्यादा से पूर्ण किया। बाद रामजी का संदेशा सीतादेवी को सुनाया। वह कार्य इन्होंने केवल अपनी ही जिम्मे-दारीपर इस कमाल खूबी के साथ किया कि जिसके कारण सीता देवी अत्यंत प्रसन्नता में अपने आपको भूल गई और 'अजर अमर गुणनिधि सुत होहू। करहिं सदा रघुनायक छोहू' यह अत्यंत दुष्प्राप्य वरदान उन के मुख से स्वाभाविक ही निकल पड़ा। इस तरह वे प्रथम सीतादेवी के कृपापात्र 'पुत्र' बन गये, और पश्चात् अपनी जासूसी के दूसरे कार्यभाग की ओर झुके।

क्षुधाशांति का केवल ही छद्म दिखलाकर उन्होंने एक अजीब ही कुरापत उठाई जिससे वे रावण के दरबार में सहज लीला से ही पहुंच सके। वहां उन्हें रावण और उसके दरबार का पौरुप, बुद्धि और मंत्र का पूरा और पक्का थाह लेना था। इस कारण उन्होंने वैसीही चेष्टा का प्रारंभ किया। इस जासूसी के परिणाम में रावणी दरबार ने जो बहुमान उन्हें समर्पण किया था उसका बदला उन्होंने 'शुभस्य शीघ्रं' ही दे दिया, और रावण की सारी लंका भस्मसात् कर दी। मानों कि शंकरभक्त रावण की लंका की प्रजा को उनकी सारी आयुष्य में फिर कभी कमी न हो ऐसा भस्म का ढेर लगा दिया। इस चरित्र से रावण और उस के महा क्रव्याद वीरोंपर भी हनुमानजीने अपनी बड़ीही जबर जरब बिठला दी। हमें तो यही दिखता है कि इस लंबपुच्छ महात्मा ने स्वयं की सामदामादि नीतिनिपुणता और शरीरबल

अजमाने के लिये लंका ही अपनी प्रयोगशाला नियत कर रखी थी । इस प्रकार लंका में का सभी आवश्यक कारोबार कर चुकने पर जासूस हनुमानजी सीतादेवी से मिले, और उन्हें रामजी से त्वरित ही मिला देने का आश्वासन देकर शीघ्र ही लंका से इस पार लौट पड़े ।

उस आनंद में समुद्रोल्लंघन बातही क्या थी । वह उन्होंने योंही कर लिया । बाद वे अपनी टुगड़ी से मिले । पश्चात् वे जब रामजी से मिले तब तो उन्होंने बड़ीही कमाल की । महाराज रामजी को महाराणी सीताजी का संदेशा उन्होंने ऐसा जमाजम् के कहा कि इतने बड़े धीर और गंभीर रामजी परंतु उनकी कुछ भी न चली, और वे एकदम से ही 'काय बचन मन मम गति जाही। सपनेहु बिपति कि चाहिय ताही ' इस प्रकार खड़खड़ाते बोल उठे । अब हनुमानजीने भांप लिया कि मालिक का कोप हद से बाहर जा रहा है । झट से ही फिर मालिक के सन्मुख होकर बड़ीही ढंगीली बातों से उन्होंने रामजीको शांत कर दिया । इस के परिणाम में तुरंतही रामजी को हनुमानजी के सामने अपनी आंख कृतज्ञता की आंच के कारण सदा के लिये दबा लेनी पड़ी । यही कारण है कि जब से अबतक हनुमानजी अपने मालिक के भी चालक बन बैठे हैं ।

गोसाईंजीने हनुमानजी का चारित्रांकन यही ध्यानसे किया हुआ दिखाता है कि उन्हें हर तरहसे ऐसी प्रतापशाली और बुद्धिवाली

व्यक्ति सारी रामायण में अन्य कोई भी नहीं दिख पड़ी। यही कारण है कि अन्य किसी भी रामायण में के हनुमानजी स्वामीजीके हनुमानजीसे हस्तांदोलन करने को पहुंच नहीं सकते। रामहनुमानसंवाद पर स्वामीजीकी यह छाप है—

'यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा'

इस प्रकारकी छाप रामायणके अन्य किसी भी संवाद पर न होना यही हम इन हनुमानजीकी अधिक विशेपता समझते हैं।

इस पात्रका पूर्ण परिचय थोडेमेंही चाहो तो इस तरह हो सकता है:—रामजीकी ओजस्विता ओर विवेक, भरतजीका वैराग्य और रामभक्ति, लक्ष्मणजीका शौर्य और रामसेवा, रावणका पौरुष और कार्यप्रवणता, कुंभकर्णका धैर्य और धडक, और निजका बुद्धिचातुर्य, अतुलवल और मनोजव, इन गुणोंका समीकरण गोसांईजीके हनुमानजी हैं। इसीलिये स्वामीजीने उन्हें इस विशिष्टता से मनाया है—

चौ० -महावीर विनवउं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना
दो०--प्रनवउं पवन-कुमार खल-बन-पावक ज्ञानघन
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर-चाप-धर

(अर्थ—जिसके यशके पारायण स्वयं रामजी कर रहे हैं उस महावीर हनुमान के सामने मैं विशेपता से नम्र होता हूं। उस खलवनपावक ज्ञानघन पवनकुमार के सामने मैं जो इस विशेपतासे नम्रीभूत रहता हूं इसका कारण ऐसा कि उसके हृत्पंजर में

रामजीको शस्त्रपाणि होकर भी सदाके लिये वंद होकर वैठना पडा है ।)

अंगद-गुह-सुग्रीव-बिभीषण ।

इन पात्रों को गोसांईजीसे रामप्रेम की दीक्षा मिलने के कारण इनमें बड़ी ही सोज्वलता आ गई है । गुणसाम्य के कारण अंगद और गुह एक जोड़ी में बैठते हैं, और बिभीषण और सुग्रीव दूसरी में । पहिली जोडी की विशेषता निष्कपट स्वामीप्रेम है, और दूसरी की स्वार्थी प्रेम । इस विषय में काव्यसमालोचनामें हमारे जो विचार आ चुके हैं उनसे अधिक यहां हमें कुछ भी कहना नहीं ।

कुंभकर्ण ।

कुंभकर्ण की तुलना हमारे मतसे सुमित्रा देवी के चारित्र से अच्छी तरह हो, सकती है अंतर केवल इतना ही है कि सुमित्रा देवी अपने हितोपदेशसे पुत्रको स्वकर्तव्य में उत्साहित करती है, और कुंभकर्ण अपने उपदेश से भाई के दुष्ट कृत्यों का निषेध करके उसके कान खोल देता है । परंतु इन दोनों के जीवन की

सामान्य विशेषता निरपेक्ष, निःसीम और नितांत रामप्रेमही है।

तुलनात्मक दृष्टि से हमारा यह भी मत है कि यह कुंभकर्ण भागवत के वृत्रासुर की ही दूसरी आवृत्ति है। कुंभकर्ण शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारसे बलसंपन्न था। अतएव रावण पर उसका बड़ा भारी दबाव पड़ता था। इस से हमारी ऐसी कल्पना होती है कि यदि वह सीता-हरण के समय जागृत होता तो रामजी को रावण-वधार्थ और ही योजना करनी पड़ती,' और उससे रामायण को कुछ भिन्न ही स्वरूप प्राप्त होता।

मंदोदरी।
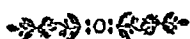
मंदोदरी का चरित्र जितना मनोहर है उतना ही वह मननीय है। मंदोदरी ने रावण को कुल चार अवसर पर उपदेश किये हैं; और हरएक उपदेश के समय रावण की उसके सामने कुछ भी न चल सकी। उस पतिव्रता का तेज ही ऐसा कुछ प्रखर था कि, अपने मनके विरुद्ध जिस रावण ने सारी आयुष्य में किसी का एक अक्षर भी सहन न किया, वही रावण मंदोदरी के सामने आंख उठाकर देखने तक की भी हिम्मत न कर सका। रावणको अपनी निष्कलंक चरित्रसे दबानेवाली सारी रामायणमें यही एक व्यक्ति है।

मंदोदरी के उपदेश उत्तरोत्तर कैसे सत्यान्वित और प्रज्व-लित होते जाते हैं इस बातकी ओर ध्यान जाने से सचमुच ही प्रतीत होता है कि उसका शुद्ध हृदय, पति के कल्याण के कारण उसके हृदय का उत्कट कल्लोल, और रामजी के विषय में उसका पवित्र प्रेम, इन सब असाधारण सद्गुणों के कारण सभी का उसके संबंधमें आश्चर्य और आदर बढ़ताही जाना चाहिये।

ऐसी भी कल्पना होने का संभव है कि मंदोदरी ने अपने उपदेश द्वारा अपने अधिकार का अतिक्रम किया। परंतु पति-पत्नि-भाव केवल सेव्य-सेवक-भाव का ही द्योतक नहीं; उसमें मित्र-भाव का बहुत कुछ अंतर्भाव होता है। इसलिये उसके उपदेशों से अधिकार का अतिक्रम होना संभव नहीं। केवलही अपने पति के इच्छित सिद्धि के लिये बंदरों द्वारा केशपाश खींचवाकर घसीटी जाते तक होती हुई विटंबना सहनेमें जो जरा भी न हिच-किचाई, उससे पति का अतिक्रम क्या कभी सपने में भी हो सकता है? हमें तो ऐसाही जान पड़ता है कि देवी मंदोदरी की परम पूज्यता पर एकान्त ध्यान होने के कारणही स्वामीजीने अपने रामजीसे रावण की दुष्टता की कुछ भी आलोचना न कराके उसको सायुज्य दिलवाया। सतीयों के और संतों के लिये परमेश्वर को अबतक क्या न करना पड़ा, और आगे क्या न करना पड़ेगा?

अस्तु। आजन्मते परद्रोहरत पापौघमय तव तनु इयं।
तुमहूं दियो निजधाम राम नमामि ब्रम्ह निरामयं॥

यह अवतरण मंदोदरी के पति-निधन-विलाप में का है।

इसके पूर्वार्ध में रावणकी हद दर्जे की निंदा भरी हुई है। शंकाकार कहते हैं कि ऐसी निंदा प्रत्यक्ष मंदोदरी के द्वारा करवाने से स्वामिजी की लोकशिक्षा को वड़ी ही हानि पहुँचने का संभव है। इस शंकाका अत्र विचार करें।

शंकाकार भी स्वीकृत करते हैं कि मंदोदरी बड़ी उच्च कोटि की चारित्र्यवती और विवेकवती स्त्री थी। तो फिर अर्थात् ही उसका विलाप विवेकसे खाली नहीं रह सकता। दुसरी निश्चित वात यह भी है कि जो विवेक कहलाता है उसमें तनक भी असद्धेतु नहीं रह सकता। इतनी वातें ग्राह्य होने पर मंदोदरी के उक्त विलापोद्गार पतिनिंदासे दूषित समझना ही सदोष होगा। क्यों कि असद्धेतुके अतिरिक्त निंदा हो ही नहीं सकती। ऐसा न हो तो पुराण, इतिहास आदि ग्रंथों को निंदात्मक ही ठहराना पड़ेगा।

अब विधायक दृष्टिसे चलेंगे। रावण की दुष्टता का विचार करने पर कोई भी कह सकेगा कि उसे रामजीने स्वस्वरूप में मिला लेना केवल उत्तर और दक्षिण ध्रुवों को एकजाय मिलाना ही है। तो फिर मंदोदरी सदृश विवेकशालिनी के सामने इस विचार का प्रादुर्भाव होना कितना स्वाभाविक था? इस स्वाभाविक विचार के आंदोलन में पति के विषय में प्रेम, और रामजी के संबंधमें कृतज्ञता उछलकर रामजी के उपकार मनाने के पवित्र उद्देश से उन दोनों की ओर मंदोदरी की दृष्टि यदि तुलनात्मक हो गई तो वह दोष होगा वा गुण, निंदा वा स्तुति? रामजीकी प्रसन्नता संपादन करने के हेतु वह निंदा थी यह वात जबतक मंदोदरी के संबंध में निर्दिष्ट

नहीं हो सकती तबतक हमारे समझ से ऐसी अश्लील कल्पना करने को जगह हा नहीं। रावण पर रामजी के जो हद से भी पार उपकार हुए उनके लिये अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करना यही हमारे मतसे मंदोदरीके पति–निधन–विलापका तात्पर्य है, और इसी कारण स्वामीजी के लोक–शिक्षा को तनक भी छींटा नहीं लग सकता। ऐसी उपपात्ति न देखकर जिन्हें अपना दुराग्रह ही देखना पसंद हो, उन्हें स्वामीजी को लाचार होकर कहना पडेगा कि आपने 'वृद्धा नोपासिताः' अतएव 'तत्रयूयमपण्डिताः'।

रावण।

रावण विरोधी भक्त था ऐसी कहावत है। जो कुछ हो, परंतु हम निश्चयसे कह सकते हैं कि गोसांईजी का रावण वैसा न था।

रामजीसे बदला लेनेके निश्चय से शूर्पणखा रावण तक पहुंची, और उसे सीताहरण के लिये तैयार कर सकी। यदि रावण विषय–लोलुप न होता तो शूर्पणखा का यत्न अवश्यही विफल होता। रावणकी दुर्भर विषयलालसा का यही पहिला प्रमाण लिया जा सकता है।

बाद रावण विचार करने लगा कि यदि रामजी कोई

मानव-होंगे तो सीता स्वयंको पच सकेगी, परंतु जो वे ईश्वर हों तो सीताहरण से निस्संदेह उसके प्राणों पर वीतेगी। इस दूसरे विचारसे उसे एक तीसरा ही विचार सूझा--प्राणहानि भी अच्छी ही बात होगी, क्योंकि तामसदेह से ईशभक्ति कुछ भी बन नहीं सकती, इस लिये संसार पार होने के लिये रामजी के ही हाथ से मरनेमें भला होगा। अब देखिये कि इस विचार में भक्तिका नामनिशान तक नहीं। केवल एक विषयवासना से प्रेरित हो कर रावण-साधक बाधक दृष्टिसे परिणाम की ओर देखता जा रहा है। तामस देहसे ईश्वर-भजन न हो सका इस से साफ़ प्रतीत होता है कि उसे उसके अनंत घोर कृत्यों का स्मरण हुआ, जिस से उसका हृदय दहल उठा। जिसे पश्चात्ताप कहते हैं सो यह नहीं। ये ईश्वरदत्त बुद्धि की डंक हैं जो कि उसे बारंबार चुभा करती थी। यदि यह यथार्थ में पश्चात्ताप होता तो इंद्रियलौल्य की जड़ कायम रख कर रावण सीताहरण के लिये प्रवृत्तही न होता। इस विचार के लिये यह प्रमाण देखिये—

चौ०— सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करऊं। प्रभु सर प्राण तजे भव तरऊं॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम वचन मंत्र दृढ एहा॥
जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउं नारि जीति नर दोऊ॥

अंतकी-चौपाई में के विचार को रावण का अंतिम निश्चय समझना चाहिये। भक्ति का अथवा पश्चात्ताप का, ऐसा अश्लील पर्यवसान होना कभी भी संभव नहीं।

आगे रावण के सीताहरण का वर्णन इस प्रकार है—

चौ०- सूनबीच दशकंधर देखा । आवा निकट जतीके भेखा
नाना विधि कहि कथा सुहाई । राजनीति भय प्रीति दिखाई
कह सीता सुनु जती गुसाईं । बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं
तब रावण निजरूप दिखावा । भई सभय जब नाम सुनावा
कह सीता धरि धीरज गाढा । आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढा
जिमि हरिवधुहि छुद्र सस चाहा । भयसि काल बस निसिचरनाहा
सुनत बचन दससीस लजाना । मन महं चरन बंदि सुख माना

इस वर्णन से स्पष्ट दिखता है कि रावणकी उच्छृंखलता से जब सीतादेवी उसपर बिगड़ी उस समय उनके पातिव्रत्य के तेज से चकित होकर रावणने उनको मानसिक प्रणाम किया । यह प्रणाम मानसिक शुद्धिका नहीं कहलाया जाता । 'डाँटे पै नव नीच' इस प्रकारका वह नमस्कार था । यदि वह सच्चे सत्वशुद्धि से होता तो उसकी सत्वशुद्धि दूसरे ही क्षण में उसे छोड़ चली न जाती । वह नमस्कार मानभंग की लज्जासे किया हुआ था, न कि भक्ति अथवा पश्चात्ताप से ।

यदि वह प्रणाम सच्चे पश्चात्ताप के आंच का होता तो बाद में रावण भिन्न ही स्वरूप में दिखाई देता । मानभंग की लज्जा के स्थान में अपने पूर्व पापोंकी लज्जा यदि उसे मालूम हुई होती तो भगवती सीता माता के शरण में जाकर उसने उन से क्षमाही मांगी होती । परंतु गोसाईंजी कहते हैं:—

दो०- क्रोधवंत तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ ।
चला गगनपथ आतुर भय रथ हांकि न जाइ ॥

इस दोहे से रावन के मन की स्थिति इतनी स्पष्ट हो रही है कि शंका को जगह ही नहीं रह सकती। दोहे में के 'क्रोध' और 'भय' शब्द बड़ेही महत्वपूर्ण हैं। मन के सकाम रहे बिना ये विकार कभी भी उत्पन्न नहीं होते ऐसा सिद्धान्त है। अर्थात् यह निर्विवाद सिद्ध है कि रावण के मन में पश्चात्ताप और भक्ति का लेशमात्र भी न था।

दूसरे प्रकार से देखने पर भी रावणका पक्ष हीनही दिखाता है। यदि मान लिया जाय कि उसने सीताहरण भक्तिपुरःसर किया, तो क्रोध और भय की उपपत्ति कैसी जम सकती? भक्ति की भावना से उसने सीताहरण किया होता तो उसका मन बड़ा ही शांत रहता, क्योंकि भक्ति में उद्वेग पैदा हो ही नहीं सकता।

पश्चात् लंकामें भी उसने सीतादेवी को फुसलानेका निःसीम प्रयत्न किया। उस प्रयत्नकी मंज़िल अखीर यहांतक पहुंची कि—

चो० सीता तै मम कृत अपमाना। कटिहहुं तव सिर कठिन कृपाना
नाहिंत सपदि मान मम बानी। सुमुखि होत नतु जीवन हानी।

पश्चात्ताप और भक्ति की अल्पसी रेषा भी यदि रावण के मन को स्पर्श कर निकली रहती तो ऐसी गलकटियोंकी वृत्ति उसके मन को क्या छू भी सकती थी! अन्ततक भी ऐसी लहरने उसके मन-को स्पर्श नहीं किया। उसका मृत्यु केवल बदला लेनेकी भावना में ही हुआ। क्या 'कहां राम रन हतउं प्रचारी' इस उक्तिसे और भी कोई बात स्थापित हो सकती है?

स्वामिजीका रावण इस प्रकार का हुआ है । रज और तम का तो वह केवल पुतला है । सत्व गुण क्या चीज है वह जानताही नहीं । हमारे मतसे वह हदसे बाहर विषयी, मानी, खूनी और निर्लज्ज दिखाता है । (मंदोदरीका शोक-रा० पृ० ६६९ देखिये)

पूर्वोक्त विचारोंसे स्वामीजीने अपना रावण कहींसे भी लिया हुआ नहीं है । उनका रावण कभी कामी, कभी क्रोधी, कभी बक ध्यानी, कभी स्त्रियोंको डरानेवाला; कभी उनसेभी डरनेवाला, इस प्रकारका हुआ है । इसी लिये स्वयं गोसांईजी कहते हैं कि अध्या-त्म और वाल्मीकि के रावण की अपेक्षा उनके रावण से विशेष डरकरही रहना भला । क्योंकि

चौ०-नवनि नीचकै अति दुखदाई । जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥
भयदायक खल की प्रियवानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥
यानी 'अन्यथास्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयंकरः'

इन सब कारणोंसे, और कविपरिचय के प्रथम दो लेखोंसे, ज्ञात होता है कि गोसांईजीने अपने रावणका वर्णन अकबरका लक्ष्य कर के बनाया है ।

यहां प्रश्न होगा कि यदि हमारा मत ग्राह्य किया जाय तो अपने रावणको वे सायुज्य कैसे दिलवा सके? परंतु उसका सहल और सरल उत्तर यही है कि अपने रावणको जो उन्होंने सायुज्य दिलवाया वह उसके हक या अधिकार के परिणाममें नहीं, किंतु अपने लोक-शिक्षक और लोकनायक रामजी के परम उदारता के कारण । क्योंकि अपने रामजीको उन्होंने प्रारंभसें ही इस प्रकार दर्शाया है ।—

दो० -प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान।
तुलसी कहूं न रामसे साहिब शीलनिधान ॥

हमारा मत यदि ग्राह्य न हो तौभी इतना हम निश्चयसे कह सकते हैं कि स्वामीजी अपने रावणको विरोधीभक्त न दिखा कर उसे उन्होंने ऐसा ही दिखाया है जिसका विकट दृश्य उन्हींके निम्न कवित्त में दर्शित है—

बुद्धि बड़ी चतराइ बड़ी मानो अंगमें ललता लिपटी है।
नाम बड़ो धन धाम बड़ा जग मांह बड़ी कीरत प्रगटी है ॥
अवलोक दुआर कै मनुप हजार इंद्र कुबेर से घड़ी न घटी है।
इक रामके भगति बिना तुलसी जैसे सुंदर नारकि नाक कटी है॥

———

उपसंहार।

——:0:——

सामान्य निरीक्षण।

१ ईश्वरी माया अघटितघटनापटीयसी है, वह उसकी वही जाने। सोलहवी सदी, और उसके बादकी सत्रहवी सदी भी कुछ अंशोंतक साहित्यकी दृष्टिसे 'न भूतो न भविष्यति' ही हुई है। इन सदियों में वाग्देवताका अभूतपूर्व ताण्डव बहुधा सारे संसार में ही दिख पड़ता था। उसका यह विलास, स्वतंत्र देशों में होना विशेष आश्चर्य-जनक नहीं। परंतु मुगल बादशाहोंके भ्रूविक्षेप पर ऐकसहा एकाग्रतासे नज़र रखने में ही तत्पर रहनेवाले हिंदुस्थान देश में भी उसका आगमन देखकर

विशेष आश्चर्य मालूम होता है। हिंदुस्थान योंही उष्ण कटिबंध में का एक देश। तिसपर मुगलों के प्रखर मध्यान्ह सूर्य की उष्णताकी विशिष्टता। फिर क्या पूंछना है! ऐसी अवस्था में वागीश्वरी का कंठ बिलकुल ही शुष्क होजाना चाहिये था। परंतु इधर देखिये तो उसके कंठ में से वाग्रस का अव्याहत प्रवाह हुआ है, और वह भी इतना असामान्य मधुर और अप्रातिम शालीन कि उस समय हिंदुस्थान में उसका जो रसप्रवाह प्रगट हुआ उसकी दूसरी आवृत्ति अभीतक न दिख सकी।

२ हिंदुस्थान में सोलहवी सदी का कवि-मंडल बड़ाही विस्तृत हुआ है। उस में प्रमुख, उत्तर में गोस्वामी तुलसीदासजी और सूरदासजी, दक्षिण में एकनाथ महाराज, और पश्चिम में नाभाजी महाराज थे। इन कवियों की गणना उच्च कोटि के उन कवियों में की जाती है जिनके नाम इस भूतलपर आचंद्रार्क रहेंगे। परंतु अत्यंत खेदकी बात है कि यद्यपि परमेश्वर ने इन सब कवियों के काव्योत्कर्ष का श्रेय प्राप्त कर लेने की दिव्य संधि सम्राट अकबर को अनायास दी थी तो भी उन में से एक भी कवि का गौरव करने का भाग्य अकबरसे न सध सका। जहाँ जेतृत्व, परकीयत्व और ऐश्वर्य के अभिमान का विशेष प्राबल्य वहां गुसांईजी के कथनानुसार ' श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काह ' में परिणाम होने का क्या आश्चर्य! अस्तु, 'जो जस करइ सो तस फल चाखा'। परंतु अपने परंपरागत शीलको देखकर आज भारतवर्षने मुगलों के उपकार ही मानने चाहिये, और वह केवल इतनेही वास्ते कि

उन्होंने जैसे हमारे देव-देवालयों पर चढाइयां, देव-ब्राह्मणों पर जुलुम और साधु--संतोंपर अतिक्रम किये, वैसे हमारे ग्रंथोंपर अपस्मार और उपव्याप करने का मोह उन्हें न हुआ ।

कवि के जीवनी का अभाव ।

३ अस्तु । ऊपर के कविमंडल में से सांप्रत हमें गोसांई तुलसीदासजी के विषय में ही विचार करना है । संमत् १९६९ (स. १९१३ ई.) में रामचरितमानस का हमारा मराठी भाषांतर प्रकाशित हुआ । उस में स्वामीजी की जीवनी अधिक विस्तृत नहीं तो बिलकुल संकुचित भी नहीं ऐसे प्रमाण से दी गई है । उसीकी द्विरावृत्ति करके यह भाग निरर्थक ही स्थूल करने की हमारी मनीषा नहीं । इस कारण यहांपर जीवनी के अभाव का आश्चर्य पाठक न मानेंगे ।

गोसांईजी का प्रमुख काव्य ।

४ उस जीवनी में दी हुई स्वामीजी के ग्रंथों की सूची देखने से उन के मुख्य, समग्र और प्रचलित ग्रंथ दो ही दिखते हैं जो (१) रामचरितमानस (The heart of the History of Rama) और (२) विनय–पत्रिका–(Appeal for mercy) हैं । इन दोनों में से रामचरित-मानस का ही प्रचार विशेष है । गीताजी के बाद ऐसा लोकप्रिय ग्रंथ सारे संसार में आज और दूसरा कोईभी नहीं है । जिसे यह कथन अतिशयोक्ति जान पड़ता हो, वह नीचे दिया हुआ पाश्चात्य चश्मा लगाकर देखने का प्रयत्न करे—

' The Ramayan of Tulasidas is more

popular and more honoured by the people of the North-Western provinces than Bible is by the corresponding classes in England.'

'India here reveals all the opulence and even the terrific excess of her imagination.'

GRIFFITHS.

सारांश---इंग्लंड में बायबिल को जो लोकमान्यता और लोकप्रियता प्राप्त है, उस से भी बढ़कर वायव्य प्रांतों में तुलसीदासजी की रामायण को प्राप्त है। अपनी कल्पकता के वैभव का और उस के भीषण उत्कर्ष का प्रदर्शन भारतवर्ष इस रामायण के द्वारा करता है।— पं० ग्रिफिथ्स

इतना होने पर भी यदि हमारा कथन अतिशयोक्तिही माना जाय, तौ भी ऊपर दी हुई पं. ग्रिफिथ्स की सम्मति अगण्य नहीं हो सकती।

हिंदी साहित्य में तुलसीरामायण को ही अग्रमान क्यों?

५ अब सहजही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इतना लोकादर इस एक ही ग्रंथ को क्यों प्राप्त हुआ। यह प्रश्न जितना स्वाभाविक है उतनाही वह महत्त्वपूर्ण है। वस्तुस्थिति के देखने पर तो यही ज्ञात होता है कि उस के प्रचार में अनेक भयंकर कठिनाइयां थीं। रामचरित-मानस सं. १६६१ (स. १५७५ ई.) में प्रकाशित हुआ। उसी समय प्रचंड तथा दीप्तिमान् कविद्वय सूरदासजी और नाभाजी महाराजभी जीवित थे। अर्थात

रामचरित–मानस के दो समकक्ष प्रतिस्पर्धी विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त श्रीएकनाथ माहराज (पैठणवाले) का भागवत (स्कं. ११ की मराठी टीका) सं. १६३० (स. १५७४ इ०) में उसी प्रदेश (श्री क्षेत्र काशी) में प्रकाशित हुआ। फिर भी, राज्यकर्ताओंकी परकीय भाषाओंके भिन्न प्रवाह जोरोंसे उत्तरपर आक्रमण कर ही रहे थे। गरज़ यह कि एक ही समय और एक ही वातावरण में इन सभी प्रतिस्पर्धियोंकी गचपच बड़ी ही प्रबलतासे मच रही थी। ऐसी विकट परिस्थिति में भी अकेले रामचरितमानसने ही अपना अड्डा जमाकर वही एकदम सर्राटेसे लोकप्रचार में अगुआ हो निकला। इसके कारण हमारे मतसे ये हैं:—

(१) मूल रामचरितमानस ही बड़ा मीठा और आबालवृद्धोंके परिचयका, फिर उस में स्त्रीशूद्रादिओंकी प्राचारिक देशभाषा बड़ी लजीजीसे बरती हुई, फिर और भी उस में विशेषता यह कि व्याकरण की झंझटसे बची हुई। इन सभी कारणोंसे ग्रंथका प्रवेश बिलकुल नीचे दर्जे के समाज तक पहुंचने में जरा भी दिक्कत न पड़ी।

(२) मनुष्य–स्वभाव का निरीक्षण आलोचना की दृष्टि से हो तो वह कटु होता है। परंतु यदि प्रेमकी दृष्टिसे हो तो वही उलटे मीठा होता है। स्वामीजी की यह दृष्टि अन्त तक कायम रही। अतएव ग्रंथ में कहीं भी रूखापन न आकर उस में के सभी उपदेश बड़े ही परिणामकारक हुए हैं।

(३) आध्यात्मिक विचार अनधिकारियों को त्रासदायक जान पड़ते हैं । इस लिये उनकी जगह भक्तिभावनाओंकी योजना-की जानेसे ग्रंथ रुक्ष और कठिन न होकर बड़ा ही मृदु और मनो-हर हुआ है ।

(४) गोसांईजी सब सांप्रदायिक झगड़ोंसे बिलकुल अलिप्त रहे । फलतः इनके विचारों में निष्पक्षभाव बहुत बढ़ गया । परंतु प्रेमयुक्त भाषण उनका नैसर्गिक गुण था । इस कारण बहुधा अप्रि-य मालूम होनेवाला कठोर सत्यभी उनके जिव्हा-गुण से प्रिय और आदरणीय ही हुआ है ।

(५) गोसांईजी में कविकला और शिक्षणकला दोनों इश्व-रदत्त गुणोंका सहयोग होनेके कारण उनके आंदोलनसे कठिन विष-य भी बिलकुल सहल, सरल और मनोरंजक हो गये हैं ।

(६) एक काव्य कला की दृष्टि छोड़कर अमानुष और दैवी चमत्कारोंका मिश्रण करनेकी प्रवृत्ति गोसांईजी में बहुत ही कम थी । अतएव उनके कथानकों के सूत्र कहीं भी विस्खलित नहीं दि-खाई देते । यही कारण है जिस से उनके विचार समझने के लिये बुद्धिपर विशेष जोर नहीं पड़ता ।

(७) बीभत्सता ओर अश्लीलता उनकी कविता को छू तक न सकी ।

(८) हिंदी साहित्य में भाषाका समग्र-चरित्र-ग्रंथ यह पह-ला ही है (और दैववशात: अभीतक वह पहिला ही रहा)।

(९) यावनी राज्य, भाषा और रीतिरिवाजों के निकट संसर्गसे सनातन वैदिक धर्मका पूर्ण लोप हो चुका था। उस धर्म के पुनर्घटना के लिये देशस्थिति बिलकुल ही प्रतिकूल थी। ऐसी विकट परिस्थिति में स्वधर्मजागृति नहीं तो कमसे कम स्वधर्म, स्वजाति और स्वदेश का अभिमान तो भी अवशेष रहे इस उद्देशसे सर्वसाधारण सुगम और सुकर भक्तिमार्ग की योजना गुसांईजीने निश्चित की, और उस मार्ग की शिक्षाके लिये इस काव्य की रचना की। मार्ग और शिक्षा दोनों भी सादे और सरल होने के कारण जनता का समाधान होने में और उनकी भावना उल्लसित रहने में कुछ भी व्यत्यय न आ सका।

(१०) व्यवहारपटुता, नीतिशिक्षण, विचार-गांभीर्य विद्याभिरुचि और शास्त्रदृष्टि इन सबका यथोचित परामर्ष होनेके कारण ग्रंथ केवल लोकमान्य ही नहीं किन्तु विद्वन्मान्य भी हो सका।

गोसांईजी की कवि-कोटि।

६ अब देखेंगे कि गोसांईजी किस कोटिके कवि थे। हमारे मत से वे पंडित-संत-कवि थे, जैसे कि श्री एकनाथ महाराज। अब इसी बात का विचार होगा।

गोसांईजी की पंडिताई।

७ रामचरितमानस की पूर्वोक्त समालोचना से बिलकुल ही स्पष्ट है कि गोसांईजी का साहित्य-व्यासंग बड़ाही चढ़ाबढ़ा था। हमारे पात्र-परिचय से निर्विवाद सिद्ध होता है कि उनका अध्यात्म और वाल्मीकि रामायणों

का परिशीलन बड़ाही व्यापक और मार्मिक था। उनका केवल आत्मा ही था। यह एक ही बात उनकी विद्वत्ता सिद्ध करने के लिये अलम् है, क्यों कि 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' यह निरपवाद निश्चित हो चुका है। इन सब प्रमाणों का एकत्रित विचार करने पर गोसांईजी की पंडिताई और चतुरस्रता के संबंध में अधिक कथन निरर्थक है। सारांश, स्वयं के संबंध में 'नाना पुराण निगमागम' इ० कहने का अधिकार उन में निश्चय से वास करता था।*

८ गोसांईजी के अथवा अन्य किसी के भी साधुत्व का नि-

---

* बहुधा कहा जाता है कि कौनसी भी उक्तिकी साधारता दर्शाने के लिये वेदशास्त्रादिओं का नामानिर्देश करना गोसांईजी की एक आदतसी है। मान लिया जाय कि यह कहना सच है। तो अब ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि गोसांईजी जानबूझकर ऐसा क्यों करते थे? इस प्रश्नको सुलझाना किसीको भी सहल नहीं है।

प्रश्नके बारे में आज हम इतनाही कह सकते हैं कि स्वामीजी वेदशास्त्रादि विद्या और स्वधर्माचार के कट्टर अभिमानी थे। परंतु समय बड़ाही बांका होने के कारण उस विद्या और आचार का बड़ाही अनादर और तुच्छता होती थी। ऐसी परिस्थिति में हरएक देशाभिमानी पुरुष यही विचार करेगा कि उस विद्या और आचार का प्रचार करना न बन सके तो कम से कम उन के विषय में योग्य आदर भी यदि कायम रह जाय तो भी एक बड़ाही कार्यभाग हो चुका समझना चाहिये। इस हेतुसे वेदशास्त्रादिओं का नामानिर्देश स्वामीजीकी लेखनी द्वारा वारंवार होना बिलकुलही संभवनीय है। इस में तो संदेह ही नहीं कि वेदशास्त्रादि विद्या और स्वधर्माचार के विषय में आदर और प्रेम उत्पन्न करना उस समय समाजशिक्षा का एक महत्वपूर्ण भाग था।

स्वामीजी की सन्त--कोटि ।

श्चय दूसरों के लिये करना अत्यंत कठिन है। यह निश्चय प्रत्येक व्यक्ति की भावना और मनोमय साक्ष्य का कार्य है। इसलिये इस संबंध में हम अपना मत, अपने लिये ही समझकर देंगे। गोसांईजी को संत कहने के हमारे मुख्य कारण ये हैं:—

१ कविपरिचय में सिद्ध किये अनुसार उन्हें हम वाल्मीकिजी का अवतार समझते हैं।

२ उनके ग्रंथ उनके भगवत्-प्रेमकी पूरीपूरी गवाही दे रहे हैं।

३ दूसरे कवि और संत भी उन्हें निःसीम भगवद्भक्त और चारित्र्यवान् ही बतलाते हैं।

४ कविपरिचय में सिद्ध हो चुका है कि गोसांईजीने 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया' इसी वाक्यानुसार रामचरितमानस की रचना की है।

५ उक्त कारणों से भी स्वसंस्कारानुसार जिनका विश्वास स्वामीजी के साधुकोटिके संबंधमें न होता हो, उनको हम कमसे कम इतना तो अवश्य ही बतला सकेंगे कि गोसांईजी एक अत्यंत महनीय विभूति थे। प्रमाण में हम यहां एक सलक्षण और निष्पक्षपाती इतिहासकारका मत उध्दृत करते हैं—

स्वामीजी की महनीयता ।

'It is a relief to turn from the triviality & impurity of most of the versifiers in Persian to the virile, pure work of a great Hindu, the tallest tree in the 'Magic Garden' of mediaeval Hindu poetry. .... (yet) that Hindu was the greatest man of his age in India, greater even than Akber himself, in as much as the conquest of the hearts & minds of millions of men and women effected by the poet was an achievement infinitely more lasting and important than any or all the victories gained by the monarch: ... . Tulasidas was the name of the Hindu for whom such pre-eminence is claimed.'

(*Smith's Akber, 2nd Edition p. 417 & 418*)

(इसका सारांश यह है कि प्रायः सभी फारसी शाहिरों की क्षुद्रता और अपवित्रता से बाहर निकलने पर जब हम मध्य-कालीन हिंदी काव्यरूप 'नंदनवन' के कल्पवृक्ष सदृश एक श्रेष्ठ हिंदू की चारित्र्यपूर्ण और पवित्र काव्यरचना की ओर जाते हैं तब मन को स्वस्थता मालूम होती है। ....

... यह हिंदू, अपने समय में, सारे हिंदुस्थान में अद्वितीय और स्वयं (दिल्लीपति) अकबर से भी श्रेष्ठतर हुआ है, क्यों कि अकबर के सारे युद्धविजयों की अपेक्षा लाखों स्त्रीपुरुषों के मन और हृदय पर इस कविने प्राप्त की हुई विजयश्री अगाध महत्व और चिरंतनता की हुई है।

जिस श्रेष्ठ हिंदू व्यक्ति के लिये ऊपर दी हुई विशेषताओं का दावा किया जाता है उसका नाम तुलसीदास था।)

१०. यहांतक कहा जा चुका कि तुलसीदासजी संतकोटिमें गण्य हैं; परंतु इतने कथन से ही निर्वाह न होगा। क्यों कि संतों का भी वर्गीकरण किया गया है, जैसा कि—(भाग. ४-१४-४२)

ब्राह्मणः समदृक् शांतो दीनानां समुपेक्षकः।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा॥

इस श्लोक से संतोंकी दो कोटियाँ सिद्ध होती हैं। श्लोकका अर्थ यह है—ब्रम्हज्ञानी समदर्शी और शांत होकर भी यदि दीनों की उपेक्षा करनेवाला रह जाय तो जैसे फूटे बर्तन का पानी बहकर व्यर्थ जाता है वैसे ही उसका ब्रम्हज्ञान व्यर्थ होता है। यही अभिप्राय श्री तुकारामजी ने 'आपण जेवी जेवची लोकां। संतर्पण करी तुका' (अर्थ स्वयं खावे और सबको खिलावे ऐसा संतर्पण तुका कर रहा है।) इस उक्ति में दर्शाया है। इस से दो प्रकारके संतोंका होना पाया गया (१) केवल ब्रह्मज्ञानी, और (२) परोपकारी ब्रह्मज्ञानी। कविपरिचय में निश्चित हो चुका है कि तुलसीदासजी अपने संतपना का संतर्पण करनेवाले थे। अतएव वे श्रीरामदास प्रभृति संतोंके कोटि में गिने जाते हैं।

गोसांईजी की कवि कोटि।

११ कविकी कोटिका विचार करना हो तो उसका कवि-गुण (Poetie gifts & their cultivation और उसकी कविता (Poetry) इन दोनोंका विचार करना प्राप्त होता है। वास्तविकतः काव्यसमालोचन इत्यादि द्वारा गोसांईजी के कविगुण और काव्य का निरीक्षण इतना तो चुका है कि उसके

शतांशसे भी वह यहां होना असंभव है । अतएव उनके कविकोटि के संबंध में हमारा सविस्तर विचार देखना हो उन्हें इस ग्रंथके पूर्व भाग में विचरण किये बिना मार्ग ही नहीं । यहां हम कविकोटि का विचार उस भागके निष्कर्षरुप से ही करेंगे ।

गोस्वामीजी की कविगुणसंपन्नता ।

१२ काव्य–प्रकाश कविगुण का निदर्शन इस प्रकार करता है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

इसका अर्थ काव्यशक्ति ('कवित्वबीजरुपः संस्कारविशेषः') कवित्वप्रयोजक पूर्वजन्मसंस्कार, लोकनिरिक्षण, शास्त्र और काव्यादिकों के परिचय से आनेवाला नैपुण्य, और काव्यज्ञ गुरु के शिक्षानुसार काव्य–प्रवृत्ति कवित्व के कारण–गुण हैं ।

१३ कविपरिचय में के पहिले ही लेख में सिद्ध किया गया है कि गोसांईजी पूर्व जन्म में वाल्मीकिजी ही थे । अतएव निश्चित हुआ कि 'शक्तिगुण' उन में था ही । कविपरिचय के दूसरे और तीसरे लेख में उनके लोकनिरीक्षण का पूरा प्रमाण मिलता है । उनके शास्त्रकाव्यादिकोंका अवेक्षण हमारे काव्यपरिचय से निर्विवाद सिद्ध होता है । अब रहा तीसरा गुण 'काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास' । इसका भरपूर प्रमाण गोसांईजीके ही नीचे दिये हुए वाक्यों में है:—

दो०–मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउं अचेत ॥

चौ० तदपि कही गुरु बारहि बारा। समुझि परी कछु मतिअनुसारा
(रा० पृ० २८)

इस से काव्यप्रकाशकार के मतानुसार निश्चित हुआ कि गोसांईजी कविगुणगण मंडित थे।

१४ काव्यगुणके संबंध में काव्यप्रकाश की कारिका ऐसी है:—

'माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश'

तुलसीरामायणकी काव्यकोटि।

इस के अनुसार काव्यके तीन गुण हैं:— १ माधुर्य, २ ओज, और ३ प्रसाद। इन तीन गुणों के तीन कार्य हैं। माधुर्य से आल्हाद होता हैं, ओज से चित्तका उद्दीपन होता है, और प्रसाद से चित्त रसप्रवाह से एकदम प्रफुल्लित हो जाता है। गोसांईजी के काव्य में इस गुणसमुच्चय का अथ से इति तक अस्खलित प्रवाह है। जिसे यह प्रवाह बड़े ही उत्कर्षपूर्वक बहता हुआ देखने की इच्छा हो, उसने स्वस्थ चित्त से अयोध्याकांड देखना चाहिये। उसमें कौशल्या—शोक, राम—सीता-संवाद, सुमित्रा का उपदेश, राम—गुह संवाद, भरद्वाजाश्रम छोडने के बादका राम—वन—प्रवास, भरतचरित्रका चित्रकूट का भाग आदि प्रसंग तो इस गुण—प्रवाह के कारण पाठकों को मंत्रमुग्ध कर छोडते हैं। उपरिनिर्दिष्ट गुणोंका अवलोकन करने में हमारे काव्यपरिचय का भाग पाठकों को बड़ा ही उपयोगी होगा। सारांश यह है कि कालिदास की उपमा, भारवी का अर्थगौरव, और कुछ अंशोंसे दंडी का पदलालित्य का परिपोष रामचरितमानस में उत्कृष्ठता से हुआ है।

१५ अब रामचरित-मानस के दोषोंका विचार करना भी आवश्यक है। काव्यप्रकाश की कारिका के अनुसार केवल एक ही बडा भारी दोष इस काव्य में जो सभी को दिखाता है वह 'च्युत--संस्कृति' (व्याकरण-लक्षण-हीनत्व) का है। इस दोष के संबंध में हमने कविपरिचय के चौथे लेख में (पृ. १९ पर) उल्लेख किया ही है। उसी की पुनरुक्ति करने की अब आवश्यकता नहीं। जानबूझ के गोसांईजीने यह दोष क्यों रहने दिया होगा, इसका ठीक ठीक कारण बतलाना कठिन है। हमारा अनुमान है कि विलकुल नीचे के दर्जे के समाज में भी लोकशिक्षा त्वरित और सुगम होने के उद्देश से प्रेरित होकर गोसांईजीने जानबूझकर इस दोष की ओर विलकुल ही आंख मीच ली।

१६ शास्त्रदृष्ट्या हमारा काव्यनिरीक्षण यहीं समाप्त हुआ। सामान्य दृष्टिसे इस काव्य के विशेष गुण पहिले ही (व्या. ५ में) दिये गये हैं। उन्हीं में नीचे के गुण मिला कर हम यह सामान्य दृष्टि का काव्यनिरीक्षण समाप्त करते हैं—

(१) अध्यात्म और वाल्मीकिके पात्र और प्रसंग इनके वर्णनोंमें जो पूर्वापर विरोधी धर्म थे उन सबका गोसांईजीने सुधार कर डाला। इस कारण उनका काव्य यहां से वहां तक केवल आदर्शभूत और स्पृहणीय हुआ है। (विशेषतः भूमिका-परिचय देखिये।)

(२) 'करत चरित नर अनुहरत' यानी वर्णन मानवी स्वभाव के अनुसार हो ऐसा स्वामीजी का उद्दिष्ट

दिखाता है। इसी कारण उन के आध्यात्मिक पात्र अथवा प्रसंग निसर्ग को छोड़कर नहीं रहते। लोकशिक्षा आकर्षक और परिणामकारक होने के लिये उनकी यही शैली विशेष कारणीभूत हुई है।

(३) स्वामीजी के वर्णन बहुधा 'आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मन।' इस कारिका के अनुसार हुए हैं। तिस पर भी वे बड़े संक्षिप्त और ध्वनियुक्त होकर हृदयस्पर्शी होने के कारण पाठकों की भावनिरीक्षणशक्ति की परीक्षा ही लेते हैं। (विशेषत: अयोध्याकांड देखिये।)

(४) काव्यरचना के लिये गोसांईजीने किसी विशिष्ट ग्रंथ या मत का बुद्धिपुर:सर अभिनिवेश नहीं रखा। उन्होंने अपने विचारों के लिये सयुक्तिक अंश अनेक ग्रंथों से आधार रूपमें ले लिया। इससे उनका मत–स्वातंत्र्य प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। (पात्र–परिचय देखिये।)

तुलसीरामायण का विरूपीकरण।

१७. यहांतक पाठकों का उत्साह वर्धमान् रहा होगा, परंतु अब उस के भंग का समय आया है। तो भी आगामी उत्साह की आशा से यह बीचला समय वे सम्हाल लेवेंगे।

१८. कितने खेद की बात है कि रामचरितमानस जैसे धुरीण काव्य की एक भी असल प्रति आज हिंदुस्थान नहीं दिखा

सकता ! सुनते हैं कि हाल में गोसांईजी की हस्तलिखित प्रति का केवल अयोध्याकांड ही बचा है। बाकी के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी मालूम नहीं होता। अंदाजन पचीस साल के पहिले अलाहाबाद की इंडियन प्रेसने, और अभी अभी अंदाजन दो साल के पीछे कलकत्तावाली हिंदी पुस्तक एजेन्सी द्वारा श्रीयुत रामदासजी गौडने अत्यंत परिश्रम से अपनी अपनी शुद्ध प्रति प्रकाशित कर के सारे हिंदुस्थान को उपकृत किया है। उपकृत कहने का कारण, उनके परिश्रम से अपनी पंडिताई का प्रदर्शन करनेवालोंने रामचरितमानस पर जो अपस्मार किये थे वे सब इनके परिश्रम से चौराह पर मँडाये गये हैं। शिष्ट कहलवा कर अव्यापारेषु व्यापार करनेवाले इन बेजवाबदार महाशयोंने रामचरितमानस की देह को बहुत ही छिन्नभिन्न करके ऐसी भयानक कर दी थी कि उस के प्राणप्रयाण का भी भयप्रद चिन्ह दिखने लगा था। परंतु देशके सुदैव से कहिये या गोसांईजी के पुण्यप्रभाव से कहिये, इंडियन प्रेस और श्री० रामदासजी गौड का ध्यान इस गर्ह्य क्रांति के ओर गया, और उन्होंने रामचरितमानस को अपनी पूर्वदेह में लाकर उस के उपासकों के सामने खड़ा करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। रामचरितमानस की इस प्राणप्रतिष्ठा के कार्य की यथार्थ कल्पना जिन्हें हुई है, या होगी, वे उनके ऋण को कभी भी भूल नहीं सकेंगे।

१९ उपरिनिर्दिष्ट शिष्टों के उपव्याप तीन दिशाओं से वह निकले हैं:—(१) भाषाविकृति, (२) पाठभेद (अपपाठ)

और (३) क्षेपक। इन तीनों के संक्षेपाकार नमूने पाठकों को दर्शाते हैं।

(१) भाषा-विकृति।

इंडियन-प्रेस-प्रति	दो०-तब नंदीमुख स्राद्ध करि जात करम सब कीन्ह। हाटक धेनु वसन मनि नृप बिप्रन्ह कहं दीन्ह॥
बंबई वैभव प्रेस-प्रति और श्रीव्यंकटेश्वर-प्रेस-प्रति	तब नांदीमुख स्राद्ध करि जात कर्म सब कीन्ह। हाटक धेनु वसन मणि नृप विप्रन कहं दीन्ह॥
इंडियन प्रेस	दो०-अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउं निर्बान। जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन॥
बंबई वैभव प्रेस-प्रति और श्रीव्यंकटेश्वर प्रेस-प्रति	अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निर्वाण। जन्म जन्म रति रामपद यह वरदान न आन॥
इंडियन-प्रेस-प्रति	पद पदुम परागा, ओह सुख संपति, जौं ए मुनिपटधर, जौं सय संकर, उये अरुन, भूरजतरु सम इ० इ०
बंबई वैभव प्रेस-प्रति और श्रीव्यंकटेश्वर प्रेस-प्रति	पदपद्मपरागा, वह सुख संपति, जो ये मुनिपटधर जो शत शंकर, उदय अरुण, भूजी तरु सम इ० इ०

इन अवतरणों को देखकर विद्वान् पाठक स्वयंही निर्णय कर लेंगे कि इसे संस्करण कहना या विकरण, इस से कवि की भाषा शुद्ध हुई या शबल, और काव्य की देह निरुज रही या रुग्ण हुई।

(२) पाठ भेद ।

इंडियन प्रेस की प्रति ।

चौ०–बहुरि बदन बिधु अंचल ढ़ांकी । पिय तन चितइ भौंह करि बांकी
खंजन मंजु तिरीछे नैननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि

बंबई वैभव प्रेस की प्रति ।

बहुरि वदन विधु अंचल ढाकी । पियतन चितै दृष्टि करि बाकी
खंजन मंजु निरीक्षण नयनी । निजपति कहेउ तिनहिं सिय सयनी

व्यंकटेश्वर प्रेस ।

बहुरि वदन विधु अंचल ढांकी । पिय तन चितै दृष्टि करि बांकी
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निजपति कह्यो तिनहिं सिय सयननि

इंडियन प्रेस	व्यंकटेश्वर प्रेस	बंबई वैभव प्रेस
१ सरिस स्वान मघवान जुबानू	सरिस श्वान मघवा करवानू	सरिस श्वान मघवा निज वानू *
२ कहेहूते कछु दुख घटि होई	कहहूते कछु दुख घटि होई	कहते नहिं दुख घटि कछु होई
३ जानु प्रीतिरस इतनेहि माहीँ	जानु प्रीतिरस इतने माही	जानु प्रीतिवश इतने माहीं
४ सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताहीं	स्वप्न्यहु विपति कि चाहिय ताही	सपनेहु विपति कि चाहिय ताहीं

* इस पाठभेदने मूल के मर्म परही प्रहार करके काव्य की हत्या किस प्रकार की सो देखिये—

' श्वयुवमघोनामतद्धिते ' यह पाणिनीय सूत्र है । इसका वृत्यर्थ है कि तद्धितप्रत्यय के अतिरिक्त ' श्वन् ', ' युवन् ' और ' मघवन् ' शब्दों के प्रथमान्त रूप समान होते हैं । सूत्र में के ' अतद्धित ' पद का अर्थ (अ + तत् + हित = ईश्वरपराङ्मुख = वैषयिक =) स्वार्थैकपर हो सकता है । इस अर्थ की दृष्टिसे स्पष्ट ही है कि ' श्वन् ', ' युवन् ' और

इन पाठभेदों से सहजही कोई देख सकता है कि मूल संहिता पर कैसे अनन्वित प्रकार से मुंह मारे गये हैं।

२१ ऊपरके वर्णसंकर* और पाठभेदों के कारण तुलसी रामायणकी सिद्धमंत्रता निकल गई। अब उपासकोंको तुलसीदासोक्त सिद्धिका पूर्णतासे फल प्राप्त न होता हो तो उसका जबाबदार कौन होगा इसका उत्तर ये अपनी पंडिताई का प्रदर्शन करनेवाले क्या दे सकेंगे? परमाश्चर्य है कि 'सपनेहुं सांचेहु मोहि पर जौ हर-गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहउं सब भाषा भनित प्रभाउ' यह प्रतिज्ञावाक्य भी इन आंखवालों को न दिखा पड़ा! सारांश 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' यही बात हुई। उपकार

* उत्तर कांडमें 'भये वर्णसंकर कलिहिं' कहा गया है। इसे कदाचित् स्वामीजीकीही आज्ञा समझके तो इन पंडितोंने यह वर्णसंकर नहीं किया होगा?

[२२६ पृष्ट के आगे]

'मघवन्' शद्बोंमें केवल स्वरूपसाम्य ही नहीं, किन्तु गुणसाम्य भी है। नीचे की सुभाषितमें का 'विशेषवित्' शद्ब भी उसी कल्पना का द्योतक है—

शूनेव यूना प्रसभं मघोना। प्रधर्षिता गौतमधर्मपत्नी
विशेषवित् पाणिनिरेकसूत्रे। श्वानं युवानं मघवानमाह

अब प्रत्यक्ष कहने का प्रयोजन ही नहीं कि इस कल्पनाचमत्कार के कारण ही तुलसीदासजीने रामजी से मंदस्मित करवाया।

कविके ऐसे प्रगल्भ और रसभरित पाठों की जगह भलतेही अप्रगल्भ और अरासिक पाठ घुसेडनेवाले नीम हकीम काव्यकी जानको कैसा खत्रा पैदा करते हैं। उनकी ऐसी हिकमतियां देखकर यही कहना पडता है कि 'गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवंति। ते निर्गुणं प्राप्य भवंति दोषाः'।

के एवज़ में कितना भयंकर अपकार हुआ इसकी कोई कल्पना भी कर सकेगा ?

(३) क्षेपक

बंबई वैभव प्रेस प्रति—पृ. २७७-२७८

नौकानयन प्रसंग में गुह से रामजीका जो भाषण हुआ, उसी भाषणमें नीचे दिया हुआ क्षेपक जोड़ा गया है—

तुम केवट भवसागर केरे। नदी नार के हम बहुतेरे
हमरी तुमरी कसि उतराई। नापित नापित की बनवाई

यह क्षेपक उस के कर्ताकी जातिकी पहिंचान कदाचित् करा दे सकेगा। इससे अधिक इसे क्या महत्व है सो हम नहीं जानते।

(२) अरण्य—कांडमें शरभंग मुनि के आश्रममें जिस समय रामजी पहुंचनेवाले थे उसी समय इंद्रके प्रवेश की कल्पना करके एक क्षेपक जोडा गया है। यह क्षेपक, इंडियन प्रेस प्रति छोडकर, बहुधा सभी प्रतियों में मिलेगा। संशोधकों ने उसे मूळ संहिता में ही समाविष्ट कर लिया है। वह बड़ा ही विस्तृत होने के कारण हम उसमें का मुख्य भाग ही देंगे।

चौ० सीता आइ चरन लपटानी। अनुज सहित तब चले भवानी

अथ क्षेपक।

उहां शक्र जहं मुनि शरभंगा। आये सकळ देव मुनि संगा
गये कहन प्रभु देन सिखावन। दिशि बल भेद बसत जहं रावन

दो० सुरपति संशय तिमिर सम, रघुपति तेज दिनेश,
रावण जीतन निशा सम, वीते छुटहिं कलेश ॥

बीचहिं सुनि आवन प्रभु केरा। कहि सारथी तुरत रथ फेरा
दूरहिते करि प्रभुहि प्रणामा। हर्षि सुरेश गयो निज धामा

(इति क्षेपक)

प्रभु आये जहं मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा

इस भागको हम क्षेपक क्यों कहते हैं इसके कारण ऐसे। प्रथम तो इसे किसी भी दृष्टि से देखने पर इस प्रसंगका कोई प्रयोजनही नहीं जान पडता। इस कारण यह भाग वेसिरपैरकाही दिखाई देता है। वर्णन के ढंगसे जान पडता है कि मानो रामजी को रावण का पता ही न था। आदि अथवा अंत में वह कहीं भी ठीक तौरसे जोडा भी नहीं गया है। भाषाकी शैली भी तुलसीदासजी की जैसी नहीं। समूचे भाग को मिलाकर देखने से सभी काम असंवद्ध और अमिष्टताका दिखाई देता है। भाषा में रस का तो कहीं पता ही नहीं। दोहेमें का रूपक विलकुल ही भद्दा और निरस हुआ है। इतना लंवा वर्णन करनेपर भी, यह संभव नहीं कि, गोसांईजी उसमें कहीं भी रस न भरेंगे। इ० इ०

२२ काव्य के वाहिरंग पर वीते हुए ऐसे अनर्गल अत्याचार संशोधक कहलानेवालों के दृष्टि में न समा सके, यह वड़ा ही आश्चर्य है। परंतु आश्चर्य भी क्यों कर? 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्' इस हवस के मारे 'मूंदे आंखि कतहुं कोउ नाहीं'

यही जिनका बाना उन संशोधकोंकी यही तो क्या-चाहे जैसी-लीला स्वभावतः होती ही रहेगी ।

२३ परंतु ऐसे अत्याचार यदि कोई रोकना चाहे तो घृणाकी दृष्टिसे न देखकर दयाकी दृष्टिसे अत्याचारियोंकी उपेक्षाही करना ठीक, क्यों कि उनके अत्याचारोंकी जड़ काव्यके अंतरंगकी अनभिज्ञता में है । अतएव इस जड़कोही उखाड़नेका अब प्रयत्न करना भला ।

क्या स्वामीजीकी रामायण उनकी हाथचलाखी कही जावेगी ?

२४ काव्यके अंतःस्वरूपके विचारकी पूर्वमीमांसा सी समझकर एक महत्वकी बातका विचार आदिमें ही अवश्य होना चाहिये । रामचरितमानस की रचना के ढंगको गोसांईजीने 'नानापुराण-निगमागमसंमतं यद्रारामायणे निगदितं क्वचि-दन्यतोपि' इस श्लोकार्ध से ग्रंथारंभ में ही जाहीर कर दिया है । अब प्रश्न यह है कि क्या यह हाथचलाखी कही जा सकती है, और क्या इस कारण से गोसांईजी की अथवा उनके काव्य की कीमत कुछ घटी जाती है । संसार में कभी भी देखिये, दारिद्र्य द्रव्य (Material) का नहीं रहता—बहुधा योजक (Dcsignor) का ही रहता है । गोसांईजी के हाथों में जो पदार्थ आसका वह उस समय के हरएक विद्वान् के हाथों में भी उसी प्रकार आ सकता था । परंतु गोसांईजी के समान योजकत्व किसी में भी न होनेके कारण वे उसका योग्य उपयोग न कर सके । गोसांईजी ने उसीका सच्चा सच्चा उपयोग करके सारे संसार को चकित कर डाला । इस

लिये इसे चोरी अथवा हाथचलाखी कहना, और उनकी या उनके काव्यकी योग्यता को घटी हुई लेखना अत्यंत गर्ह्य होगा।

तुलसी रामायणका संकल्पित स्वरूप। २५ अब हमें यह निश्चित करना चाहिये कि गोसांईजी की योजना किस प्रकारकी है। हमें उनकी योजनाशक्ति 'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे' केवल इस एकही चतुःशाब्दिक सूत्र में ग्रथित की हुई दिखती है। इसका भाव यह है कि टाट के टुकडे भी रेशम सरीखे मृदु बनाकर जोड़े जावे तो उन्हें भी सुंदरता खासकर आनीही चाहियें। तात्पर्य यह कि साधनसामग्री प्रथम बहुतही मृदु बननी चाहिये, और वह वैसी बन जावे तब मनोहरता उसका निसर्ग ही बन जाता है। अर्थात् मृदुता लाना यही कविकलाकी असली चावी है।

२६ परंतु जबतक यह निश्चित नहीं होता कि मृदुता लानेके लिये स्वामीजीने किस स्निग्ध द्रव्यकी योजना की, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी चावी पूर्णतया ज्ञात हो गई। हमें उनका स्निग्ध द्रव्य 'राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी' इस चौपाइ में दिख पड़ता है। इसीसे हमें निश्चित होता है कि सामग्री स्निग्ध करनेका गोसांईजी का द्रव्य रामभक्ति ही है। तात्पर्य, रामभक्ति जो एक स्वतंत्र तत्व है वही गोसांईजी की योजनाका प्रधान अंग हुआ।

२७ परंतु निसर्गनियम के अनुसार उपर्युक्त घटक तत्व समान धर्म के (Homogenous) पदार्थोंपर ही अपना सामर्थ्य

चला सकता है। विरुद्ध धर्मके (Hetero-genous) पदार्थोंपर वह तत्व कुछ भी कार न कर सकेगा। स्पष्ट ही है कि भक्तितत्वसे जिन दो पदार्थों का आकलन होता है वे भज्य और भजक हैं। अर्थात् अब यह निश्चय करना अवश्य हुआ कि इन भज्य भजकों में सामान्य धर्म कौनसा।

२८ यह सामान्य धर्म भज्य भजकों की अन्योन्यकृतज्ञता है। 'भक्ति' के निरूपण में (लोकशिक्षा भाग देखो) हमने सिद्ध किया है कि गोसांईजी ने भी वही सामान्य धर्म निश्चित किया। तथापि कुछ विशेष कार्य के लिए (जो आगे दिखेगा) यहां पर हम उसे फिर भी सिद्ध करते हैं।

२९ ये अवतरण भाग. स्क. ६, अ. १९ मे के हैं:—

' मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥५॥
....

न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥ ७ ॥
सुरोऽसुरो वाप्यथवा नरो नरः सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं य उत्तराननयत्कोशलान्दिवम् ॥ ८ ॥

इस वर्णन को ऐसे विस्तृत रूपमें देनेका कारण यह है कि जिस वर्णन में गोसांईजी ने रामावतार का कारण लोकशिक्षा (कविपरिचय, लेख ३ रा देखिये) निश्चित किया, है उसीमें उन्होंने भज्य-भजकों का सामान्यधर्म भी निश्चित किया है। उपरिनिर्दिष्ट सातवे श्लोकमें रामजी के संबंध में वानरादिकों की कृतज्ञता परिणाम-

कारक रीतिसे जागृत रहती हुई दिखाई गई है। फिर तुरन्तही आठवे श्लोक में वानरादिकों के संबंधमें रामजी की कृतज्ञता उससे भी विशेष परिणामकारक रीतिसे जागृत रहती हुई दिखाई गई है। विशेष कहनेका कारण रामजी को दिया हुआ 'सुकृतज्ञ' विशेषण है। एवंच सच्चे प्रेमका बीज केवल कृतज्ञतामें ही है ऐसा भागवत का सिद्धांत प्रतीत होता है। इस सिद्धांत को स्वीकृत करके, हमारे मतसे, गोसांईजीने अपने संकल्पित काव्यकी योजनाकी रूपरेषा 'सुकृतज्ञमुत्तमम्'* इस सूत्रपरसे खींची।

३० रामचरित मानसका राम-भरत-संवाद (रा. पृ. २०५) हमारे ऊपरवाले विधान को अत्यंत पोषक है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि उस संवादको पढ़ते समय वे इस विधानको ध्यानमें रखेंगे। विस्तारभय के कारण हम यहांपर वह संवाद साद्यंत नहीं दे सकते। तथापि पाठकों के सुबीते के लिये उसमें का केवल पोषक भाग यहां देते हैं।

भरद्वाजजी कहते हैं:—

चौ० लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी

---

*'सुकृतज्ञमुत्तमम्' इस पदसे श्रीशुकदेवजी अपना भाव स्पष्टतासे 'सुकृतज्ञं अतएव उत्तमम्' ऐसा ही दर्शाते हैं। सर्वश्रुत है कि रामावतार पुरुषोत्तमावतार कहलाता है।

ऊपरके 'सुकृतज्ञं' में के 'सु' और 'कृतज्ञं' का भाव तुलसीदासजी ने 'करत सुरत सय बार हियेकी' ऐसा बतलाया है। तात्पर्य यह हुआ कि रामजी की कृतज्ञता इतनी विशेष है कि उनका एकवार स्मरण करनेवाले का स्मरण वे शतवार करते हैं।

इस पर रामजी विशेष कृतज्ञता से उत्तर देते हैं:—

चौ०-सो बड़ सो सब गुन-गन-गेहू। जेहि मुनीस तुम आदर देहू

बाद में दोनों परस्पर एक दूसरे के विषय में परम कृतज्ञताबुद्धि से प्रेरित होकर—

चौ०-मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं।

यानी एक दूसरे के चरणोंपर गिरने लगे और अनिर्वाच्य सुख में (प्रेमसमाधि में) निमग्न हो गये।

३१ उक्त विवेचन से मार्मिक पाठकों के ध्यान में आया ही होगा कि किस विशिष्ट उद्देश से भज्यभजकों का अन्योन्यकृतज्ञतारूप सामान्यधर्म द्विवार सिद्ध करने में आया।

३२ इस प्रकार गोसाईंजी के काव्य की योजना बतलाई गई, यानी उनके काव्य का संकल्पितस्वरूप दिखलाया गया। सच्चा सच्चा महत्व हम इसी स्वरूप को देते हैं, क्योंकि काव्य की आत्मा सत्य में यही है। काव्य इस आत्मा का केवल शरीर है। इस शरीर को आत्मा के तुल्य महत्व किसी हालत में नहीं दिया जा सकता। काव्य (अर्थात् कविकला) के विषय में स्वामीजी का 'सियनि सुहावनि टाट पटोरे' यह संग्रहवाक्य देख कर, कैसी भी चतुरबुद्धि हो, क्यों न चकित होगी?

३३ काव्य की योजना (अर्थात् संकल्पितस्वरूप) और काव्य का विचार यहांतक हुआ। परंतु उन्हें जोड़नेवाला एक संधि होता है। वह

स्वामीजी की शिक्षक-कोटि।

शिक्षाचातुर्य (अर्थात शिक्षकगुण) है। इसी गुणके कारण शिक्षक गहन विषय सहल करके बुद्धिपर जोर न डालता हुआ समझमें उतार देता है। विना इस गुणके कवित्वशक्तिका यथार्थ लाभ न स्वयं कवि उठा सकता, न कोई पाठक। लोकसंग्रह करनेवाले कवि में यह गुण अत्यवश्य होना चाहिये। स्वामीजी में इस गुण का इतना भारी उत्कर्ष था कि निःसंदेह उनका वह अंगभूत गुण कहला जा सकता है। गत भागोंमे इस गुणका उल्लेख जगह जगह कैसा होता गया वह पाठकों को स्मरण होगा ही। तौ भी उनके सुबीते के लिये यहांपर उस गुणके कुछ थोड़े नमूनेदार उदाहरण सूचित कर देते हैं:—

विषय	रा० पृ०	विषय	रा० पृ०
नाम-महिमा	२३-२५	राम-नारद-संवाद	४७९-४८०
राम-महिमा	२६-२७	ऋतुवर्णन	५००-५०२
राम-वाल्मीकि-संवाद	३१५-३१८	रथरूपक	६४८
भरतजीकी प्रयाग-राजको विज्ञप्ति	३६०	रावणको रामजी का उत्तर	६५७
पतिव्रता का चातुर्विध्य	४३८	भुशुंडिजीसे रामजीका भाषण.	७४३-७४५

हमारे मत से मुख्यतः इसी गुण के कारण तुलसीरामायण की लोकप्रियता और लोकादर अबतक वर्धिष्णु हुआ जाता है।

३४ गोसांईजी का शिक्षाचातुर्य का मार्मिक स्वरूप देखनेवाले को एक आलोचना बड़ेही महत्व की है। कोई भी देख सकता है कि वे शिवोपासक होने के कारण सर्वसाधारण नियम के अनुसार उन्होंने अपनी उपासना का ही प्रसार करना चाहिये था। परंतु अपनी उपासना का किसी भी प्रकार का अभि-निवेश न रखकर वे रामोपासना ही फैलाने लगे। इस में कुछ तो भी उनका अनरूनी हेतु होना ही चाहिये। उस हेतु के संबंध में हम को यही दिखना है कि शिवचरित्र (अथवा कृष्णचरित्र), बहुंशों से 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' के तत्व पर होने के कारण उस में अमानुषता, आर्षता और व्यवहारविरुद्धता का प्रमाण अनोखा ही बढ़ गया है। इसी के लिये सामान्य बुद्धि को एक तो उस में प्रवेश नहीं मिल सकता, और दूसरा यह कि यदि प्रवेश मिल भी गया तो उचित संस्कारों के अभाव में उसका असर कायम रह नहीं सकता। रामचरित्र की बात बिलकुलही उलटी है। वह बड़ाही सुबोध, आचारिक और व्यावहारिक होने के कारण उस में बुद्धि-प्रवेश सुभीतेसे हो कर उसके असर कायम होने में कठनाई भासित नहीं होती। सिवा इस बातके और यह भी है कि तुलसी-रामायण के समय में देशस्थिति बिलकुल ही आंटकांट पर पहुंची थी। ऐसे नाजुक वख्तपर लोकशिक्षाके कार्य में विलंब होना भयंकर हानिकारक था। इन सब बातोंको समुचितता से सोच कर गोसांईजी ने अपनी उपासना अथवा अन्य कोई भी बात की परवाह

न रख कर केवल एक लोकशिक्षापर ही अनन्य ध्यान धरा, और उसके लिये रामचरित्र ही निश्चित किया। इस से स्पष्ट है कि लोकशिक्षापर उत्कट प्रेम रखना, उसके लिये परिस्थिति के अनुसार योग्य विषय का चुनाव करना, और फिर उस विषय को चटकीला कर के उसे सब के अंतःकरण में जमा देना, ये सब गुण गोसांईजी में केन्द्रित थे। इन गुणों के युति को हम शिक्षा की (अर्थात् शिक्षक की) उच्च कोटि समझते हैं, और गोसांईजीकी गणना उस कोटि में करते हैं।

३५ अब तक सम व्यवधान रखने के कारण पाठकों को थकावट मालूम होती होगी। अब हम उन्हें कुछ बहलाव और आराम देना चाहते हैं। इस लिये तुलसीरामायण संबंधि चंद पाश्चात्य मतों को उध्दृत करेंगे। इस से यह न समझा जावे कि हम इन मतोंपर ही निर्भर हैं। हमारे प्रभावशाली कविवरों के काव्य में वुद्धि का प्रवेश होने के लिये कुछ विशिष्ट संस्कारों की आवश्यकता है, और हमें यह ज्ञात है कि पाश्चात्य पंडितों में उन संस्कारों का पूर्णतया ही अभाव रहता है। केवल पाश्चात्यों कीही क्या, यही बात कुछ अंशों तक आज पौर्वात्यों के विषय में भी कही जा सकती है। तौभी, पाश्चात्य मत देने में हमें उल्लास ही होता है, क्यों कि असंस्कृत होने पर भी पाश्चात्य पंडित बड़े गुणग्राही हैं, और उन्होंने जहांतक हो सका रामायण का गौरव ही किया। कुछ पौर्वात्य विद्वानों को पाश्चात्य चश्मे के विना स्पष्ट दिखता ही नहीं, और किसी किसी को तो ऐसी आदत सी पड़गई है कि बीच बीच

में अंग्रेजी भाषा का पेय लिये बिना उन्हें अपनी देश-भाषा का स्वाद ही नहीं आता । हमें तो वे सभी प्रिय हैं; इस लिये हम यहाँ कुछ विशिष्ट मतों का उल्लेख करते हैं ।

(१) राम-चरित- मानस के अंग्रेजी अनुवादक पं. ग्रोस कहते हैं:—

'With this small & solitary exception (of the professional Sanskrit Pandits) the Book is in every ones hands, from the Court to the cottage, and is read or heard and appreciated alike by every class of Hindu-community, whether high or low, rich or poor, young or old. The purity of its moral sentiments, and the absolute avoidance of the slightest approach to any pruriency of idea, which the author justly advances among his distinctive merits, render it a singularly un-exceptionable text book for Native boys...... ....

....

It will, I think, be admitted that a poem of such manifold interest should no longer be withheld from the English reader.'

(Introduction--P. XIII, XIV)

(व्यवसायी संस्कृत पंडितों का) अल्पस्वल्प अपवाद छोड़कर यह पुस्तक (तुलसीकृत रामायण) राजमहल से भिखमंगे के झोपडे तक हरएक के हाथ में रहती है.। हिंदु समाज के आबाल-

वृद्ध, उंच नीच, अमीर फकीर, आदि प्रत्येक वर्ग में, इसका पठन पाठन, श्रवण और अभिनंदन होता है। इसे अश्लील कल्पनाओं का स्पर्श तक नहीं हुआ है। अपने अन्य असाधारण गुणों के साथ इसका कवि यह दावा भी हकसे कर सकता है कि नैतिक विचारों से उसकी रामायण नितान्त पवित्र है। यह पौर्वात्य बालकों की उत्तम पाठ्य पुस्तक होने के लायक है। ....

मैं समझता हूं कि इस बातका सभी स्वीकार करेंगे कि ऐसी गुणयुक्त और हृदयस्पर्शी कविता आंग्लवाचक वर्ग की दृष्टि से अब अल्प काल भी दूर न रखी जावे।

(रामायणके अंग्रेजी भाषांतर की प्रस्तावना-पृ. १३, १४)

(२) और आगे पंडित ग्रोस अपनी तुलसीरामायणकी प्रस्तावना में लिखते हैं:—

... . The Hindu poem is the best and most trust-worthy guide to the living faith of the Hindu race at the present day, a matter of not less practical interest than the creed of their remote ancestors.'

अर्थात्, आज के हिंदू राष्ट्र की सार्वजनिक सचेतन श्रद्धा के लिये यह काव्य सर्वोत्कृष्ट और अत्यंत प्रमाणभूत मार्ग-दर्शक है। हिंदुओं के बहुत प्राचीन पूर्वजों के धर्ममतोंकी अपेक्षा यह बात व्यावहारिक दृष्ट्या कुछ कम महत्व की नहीं।

(३) इतिहासकार स्मिथ साहब अपने 'Akber the Great Mogul' में (पृ० ४१९ पर) कहते हैं—

.... 'It is a certain that the theology (of Tulsidas) approaches so closely to that of christianity that many passages might be applied to christian uses by simply substituting the name of Jesus for that of Ram. Grierson cites a long prayer, which as be justly observes, might be printed in a christian prayer book.'

अर्थात्—

इतना तो निश्चित है कि तुलसीकृत रामायण के पारमार्थिक तत्व, ईसाई धर्म के पारमार्थिक तत्वों से ऐसे मिलते जुलते दिखाई देते हैं कि रामनाम के स्थान में यदि ईसा का नाम रख दिया जाय तो कितने ही वर्णन ईसाई लोगों के उपयोग में लाये जा सकते हैं। ग्रियर्सन साहब तो एक बड़ा लंबाचौड़ा स्तोत्र देकर बड़ी ही न्यायबुद्धि से कहते हैं कि वह स्तोत्र ईसाई प्रार्थना पुस्तकों में छापकर प्रकाशित किया जावे।

(४) Literary Guide (June 1st. 1909) P. 85 (लिटरेरी-गाइड (जून १-१९०९) पृ० ८५.)

'Ram sums up chivalry and valour, masterly insight & general comradeship and his gigantic passionateness in the conflict with demonic powers reduced the swift-footed Achilles to a comparatively

tame figure. Not that I depriciate Homer, but the vigour of Ramayan is enormous, and India fed from childhood on such poetry can meet Europe without any sense of poverty of imagination. The Hindus may respect the Bible; but it is impossible, they should ever barter their native Epics for the book of Jonah or the legends of Moses or Jesus. They will ever retain the story of Ramayan as a national heritage and a symbol of their peculiar intellectual and moral genius.'

अर्थात् —

" राम वीर्य, शौर्य, नियामक निरीक्षकत्त्व और विश्व-बंधुत्व का समीकरण ही है। अनेक राक्षसों के समूहों का सामना करते हुए, उसकी अलौकिक निश्चलता की तुलना में चपल एकिलीस की भी पूर्ण दुर्दशा ही दिखाई पड़ती है। इससे यह न समझा जावे कि हम होमर की कीमत घटा रहे हैं, परंतु रामायण का ओज कुछ वैसा ही अगाध है। बचपन से ही ऐसे काव्य की बालगुटिका पर पुष्ट बना हुआ हिंदुस्थान, अपनी अक्षत कल्पक शक्तिके जोरपर पाश्चात्योंका सामना करने में किंचित् भी न हिचकिचा सकेगा। हिंदू लोग बाइबिल के विषय में कदाचित् आदर व्यक्त करें, परंतु यह बिलकुल असंभव है कि जोना की बाड (किताब) या मोझेस अथवा ईसा की कर्मकथायें लेकर उसके बदले में वे अपना राष्ट्रीय इतिहास दे देवें। राष्ट्र का परंपरागत ऐश्वर्य तथा

नैतिक और बौद्धिक अभ्युदय का एक अभिनव दृश्य समझकर रामायण को वे सतत अपने हृदय से ही लगाकर रखेंगे ।

(५) सर जार्ज ग्रियर्सन् के रामायण संबंधि उल्लेखः—

' The work of a greatman and
abounds in Infiite pathos.'

(अमर्याद प्रेम से भरा हुआ एक महात्मा का काव्य ।)

' I still think that Tulsidas is the most important figure in the whole of India literature.'

(मैं अभी तक यही मानता हूं कि अखिल भारतीय साहित्य में तुलसीदास बड़ी ही महनीय व्यक्ति है ।)

' In its own country it is supreme above all other literature, & exercises an influence which it would be difficult to exaggerate.'

(हिंदुस्थान के व्यापक साहित्य क्षेत्र में रामायण ही को सब से ऊँचा स्थान मिला है, और उसके प्रभाव के संबंध में जो कुछ कहा जाय वह अतिशयोक्ति हो ही नहीं सकती ।)

इन सब प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस ग्रंथ की ध्वनि आज हिंदमहासागर के उस पार के वातावरण को भी पवित्र कर रहा है ।

(३६) इतनी विश्रांति मिलने पर पाठक तर और ताजे हुए होंगे इस आशासे हम अपना काम फिरसे

ग्रंथ का नामकरण।

जारी करते हैं । अबतुलसीरामायण के 'राम चरित मानस' नाम के संबंध में विचार होगा । ग्रंथ को यह नाम दिया जाने का कारण गोसांईजीने ऐसा दिया है:—

चौ०– रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमय सिवा सन भाषा।
तातें रामचरित-मानसवर । धरेउ नाम हिय हेरि हर्षि हर

(रा. पृ. ३१)

इसका अर्थ यह कि शंकरजीने काव्य–रचना कर के उसे अपने मन में ही रखा, और पश्चात् योग्य समय देख पार्वतीजी से कहा। इसी कारण शंकरजीने विचार कर के बड़े ही हर्ष से इस काव्य को रामचरित–मानस का श्रेष्ठ नाम दिया ।

३७ श्री शंकरजी के मन में रहा हुआ रामचरित ऐसा अर्थबोध होनेके लिये 'शंकर-मानस-रामचरित' अथवा 'मानस-राम–चरित' नाम चाहिये था । 'राम–चरित-मानस' नामसे उक्त बोध नहीं हो सकता ।

३८ रामायण का 'राम-चरित--मानस' नाम हमें कहीं भी नहीं मिला । हमारे मत से यह नाम केवल कवि--कल्पित ही है । अपनी कल्पना को बड़ों को नाम का आश्रय देने के लिये कविने उपर्युक्त चौपाइयोंकी योजना की सी दिखाती है । परंतु हम इसे दोष न समझ कर निराभिमानता–गुण ही समझते हैं ।

३९ परंतु अन्तमें 'रामचारत मानस' नाम की और उसके उपपत्ति की अनुपलब्धि गोसांईजी के ध्यान में भी तुरन्त ही

आगई ऐसा कहना पड़ता है । इसी कारण उन्हों ने नाम मात्र कायम रखा, और उसकी उपपत्ति साफ बदल डाली । उनकी नई उपपत्ति अब रामचरितरूप मानसरोवर है । (रा. पृ. ३२-३६ देखो ।)

४० हमें तो रामचरितमानस का अर्थ रामचरितहृदय ('स्वान्तं हृन्मानसं मनः-अमर) ठीक दिखता है । इस अर्थ से उक्त चौपाइयोंमें के 'पाइ समय' (अर्थात् 'आरत अधिकारी जहं पावइ,') 'हिय हेरि' और 'हर्षि' इन सभी शब्दों की सरसता कायम रहकर उनका पूर्णतासे निर्वाह होता है । रामचरित्र का श्रवण करने के लिये विशेष अधिकार की आवश्यकता नहीं । उसका हृदय (यानी रहस्य) समझने के लिये ही अधिकार की आवश्यकता है । फिर भी इस अर्थ में बुद्धिविकास और आनंद दोनों भी व्यक्त हैं ही ।

काव्य का हृदय ।

४१ अब काव्य के (रामचरितमानस के) हृदय का विचार करें । जो लोग रामजी को ईश्वर समझते हों केवल उन्हीं को यदि रामचरित्र आदरणीय मालूम हो तो उसे विशेष महत्त्व दिया नहीं जा सकता । रामजी को ईश्वर और मानव माननेवाले दोनों वर्गों को रामचरित्र आदरणीय मालूम होने में उसका सच्चा महत्व है । तुलसीरामायण यदि लोकशिक्षार्थ निर्माण हुई है तो वह 'सम सुगंध कर दोउ' के अनुसार उक्त दोनों वर्गों को भी अवश्य उपयुक्त होनी चाहिये ।

४२ हमारे मत से तुलसीरामायण 'सम सुगंध कर दोउ' की कसोटी पर बावन कसी सोने के सदृश उतर सकती है। केवल सुशिक्षित और सदाचारी, अर्थात् उच्च श्रेणी के, जन-संघ के द्वारा रामजीके चरित्र की मान्यता दर्शाने में ही गोसाईंजीने समाधान नहीं माना। उस मान्यता की अपेक्षा बहुत ही अंशों से अधिक मान्यता उन्होंने अपनी रामायण में वन्य, यातिहीन, निसर्गदुष्ट, और नखशिखांत पापरूप मानववर्ग से होती हुई जहां तहां दिखलाई है। उनकी रामायण का प्रधान अंग यही है, और उसे उन्होंने इस प्रकार दर्शाया भी है:— (रा. पृ. ३८७)

सपनेंहु धरमबुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ
जब तें प्रभुपदपदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे

रामजी के चरित्र का सच्चा और अत्यंत महत्व का भाग यही है। कोई भावुक अथवा अभावुक किसी भी दृष्टि से देखे रामचरित्र का यह भाग कभी भी दृष्टि की ओट नहीं किया जा सकेगा।

४३ रामचरित्र का यह अंग स्वीकृत करने पर उसमें से सामान्य तात्पर्य निकालना कुछ भी कठिन नहीं। जिन्हें मनुष्यत्व की अल्प भी कल्पना नहीं, ऐसे समाज परभी जिसका तत्काल सत्-परिणाम होवे वही 'सच्चा चरित्र है, और जिसका ऐसा चरित्र है वही सच्चा लोकनायक है। रामचरित्रका यही निर्विवाद और सर्व-सम्मत तात्पर्य समझना चाहिये।

४४ हमारे मतसे यह तात्पर्य ही राम—चरित—मानस का हृदय है। यदि इस ग्रंथ का संग्रहवाक्य 'मर्त्यावतारस्त्विह

मर्त्य-शिक्षणं' है, (कवि परिचयमेंका लेख नं. ३ देखिये) तो रामचरित का हृदय उसे छोड कभी भी जी नहीं सकता। लोक-नायकों के चरित्रों का उद्देश यदि लोगों को आचार सिखलाने का न हो तो लोकनायक नाम में कोई अर्थ ही नहीं। उस दशामें जैसा खपुष्प शब्द वैसा ही लोकनायक शब्द होगा। सारांश, लोकनायकता क्या चीज है, और लोकनायक ने लोकशिक्षा किस प्रकार करनी चाहिये यही रामचरितमानस का सच्चा रहस्य है। (पाठक अब स्वयंही देखेंगे कि इस तात्पर्य से 'रामचरितमानस' नामपर हमारे अर्थका कितना प्रकाश पडता है।)

४५ अब इस बात का खुलासा करना चाहिये कि हिंदु-स्थान में इसका (राम-चरित-मानस का) क्या परिणाम हुआ। उसके लिये तत्कालीन देशस्थिति का थोड़ासा निरीक्षण करना अत्यंत आवश्यक है।

काव्यकृत देशकार्य।

४६ हम पहिले ही बतला चुके हैं कि यह ग्रंथ अकबर बादशाह की अमलदारी के बिलकुल मध्य में निर्माण हुआ। उस समय की देशस्थिति हमारे कविपरिचय के दूसरे लेख में दी ही है। अकबर के पश्चात् देशस्थिति और भी बिगड़ती गई, क्योंकि उस के बाद के बादशाह, उसकी नीति छोड़कर विशेष उन्मत्त और धर्म के बेहद दुरभिमानी होते गये। उनका बर्ताव बहुत ही बुरा और बेलगाम होता चला। स्वधर्म—विस्तार के लिये उन्होंने मानो सत्र ही निर्माण किये। थोडे में यही कहा जावेगा कि उनके अपस्मारों की और उपद्व्यापों की कोई सीमा ही न रही।

४७ जिस प्रमाण से उक्त अत्याचार बढ़ता गया उसी प्रमाण से उत्तर की ओर लोकमत प्रक्षुब्ध होता गया। मुख्य वेदों का अड्डा तो वहां से प्रायः उठ ही गया था। धर्म का रूप आनुवंशिक व्यवहार और बाह्याचार में ही अवशिष्ट रह गया था। परंतु इस रूप का भी जीवन ख़तरे में ही था। यावनी धर्म के सदृश वह सर्वत्र बिलकुल एकसा न था। उस के कितने ही भिन्न भिन्न रूप हो चुके थे। भिन्न भिन्न धर्मभावनाओं के कारण पहिले का ऐक्य नष्ट होकर समाज के टुकडे टुकड़ हो गये थे। समाज के भीतर का जोश निकल गया था। प्रत्येक समाज हीन तथा क्षीण बन गया था। औरंगजेब के अत्याचारों को कोई भी प्रतिबंध न होने का कारण भी मुख्यतः यही था। नेता के अभाव में समाज सर्वत्र उच्छृंखल हो गया था। फलतः समाजनीति और राजनीति दोनो नष्टभ्रष्ट हो गई थीं। सारांश यह है कि मुगल बादशाही का जो परिणाम दक्षिण की ओर हुआ, उस से कई गुना जादा उत्तर की ओर हुआ। ऐसी अत्यंत दुर्दशा हो जाने के कारण समाजनीति, राजनीति और नेता की आवश्यकता पग पग में मालूम होने लगी, और उसी के साथ साथ इन सब के प्राण—स्वधर्म—की भी उत्कट लालसा होने लगी।

४८ गोसांईजीके सूक्ष्म विलोकनमें यह विपत्ति पूर्णतया प्रतिबिंबित हुई। परंतु ऐसे समयमें वैदिक धर्मका पुनरुज्जीवन उन्हें असंभव दिख पड़ा। उन्हें विश्वास हो गया कि एक ही धर्म के छत्र के नीचे जैसे सब मुसलमान एकत्रित हुए जाते हैं, वैसेही यदि अखिल

हिंदुओंका एकही धर्म हो, तब कहीं वह धर्म यावनीधर्मका सामना कर सकेगा। फलतः, उन्हें ऐसे धर्मकी तीव्र आवश्यकता मालूम हुई जो सभी हिंदु-समाजों को एक मंच पर लाकर अप्रयास से संगठित कर दे। सुदैव ही कहना चाहिये कि उसी समय दो संत-कवि सूरदासजी और नाभाजी वर्तमान थे, और ये अपने भक्तिमार्ग द्वारा लोकादर को पात्र हुए थे। उनके कार्य से लाभ उठाने के उद्देशसे तुलसीदासजीने उन्हींके भागवत धर्म के प्रचार की कल्पना निश्चित की। देश में विचारक्रांति उत्पन्न करने के लिये यही उपाय उन्होंने सोचा और निश्चित किया।*

४९ यथार्थ में देखा जाय तो दक्षिण के कार्य की अपेक्षा उत्तर का कार्य बहुतही प्रचंड था। दक्षिण में वेदों का प्रचार होने के कारण समाज-बंधन अनेक अंशों में दृढ़ ही थे। बहुत ही लंबे फ़ासले पर होने के कारण मुगलों का उपसर्ग उत्तर के समान कष्टप्रद दक्षिण में नहीं हो सका। इस प्रकार देखने से मालूम होता है कि गोसांईजी पर दक्षिण के संत-कवि-मंडल की अपेक्षा कई गुनी बढ़कर जवाबदारी थी।

* राजनीती के संबंध में आङ्गकवि शेक्सपीयर कहते हैं:—

'There are tides in the affairs of men which taken at their flood lead on to fortune.' *Macbeth*.

[इसका अर्थ यह कि मनुष्य की आयुष्य में घटती और बढ़ती के काल होते ही रहते हैं। उनमें से यदि बढती के काल का लाभ उठाया जावे तो मनुष्य को उत्कर्ष प्राप्त होना ही चाहिये।] इस मत से और गोसांईजीकी कृति से बिलकुल मेल मिलता है। इस लिये उन्हें राजनयानिपुण कहने में हरज नहीं दिखती।

५० यह ईश्वरी संकेतही समझिये कि रामचरितमानस का आविर्भाव ऐसे योग्य समय पर हुआ। उस में विविधता और वैचित्र्य का प्रमाण बहुत ही बढ़ जाने के कारण उस पर जनदृष्टि एकदम ही लिपट पड़ी। वह सर्वांगसुंदर, अभूतपूर्व, और आदर्शभूत ग्रंथ रामप्रेम के प्रचंड प्रवाह से जनता को अत्यंत रमणीय और आदरणीय मालूम हुआ। कोई भी दूसरा भाषा-ग्रंथ उसको प्रतिस्पर्धी न होने के कारण, और उस में स्मृतिप्रणीत स्वधर्माचार की न्यूनता रामप्रेम से प्रपूरित हो जानेके कारण उसे सब समाजोंमें श्रुतिस्मृतियोंका प्रतिनिधित्व सहज ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार धर्मविहीन उत्तर को यह सूर्यप्रभ धर्म-साधन हस्तगत हो जाने के कारण अल्पावधि में ही उसका स्वाभिमान और देशाभिमान ऐसा सचेतन और सतेज होता गया कि जिस के मुकाबले में यावनी धर्म को 'दीन दीन' ही पुकारना पड़ा। रामचरितमानस ने अपनी लोकशिक्षा द्वारा जो लोकसेवा की वह यही है। इसी सेवा के कारण उत्तर का जो केवल धर्म ही कहलाता था वह उसका प्राण ही बन गया, और अभीतक भी वह वैसा ही है। इसी के कारण उत्तरी देश का हिंदुत्व जी सका; नहीं तो यावनी अमलदारीने उसे कभी ही दफ़ना दिया होता। स्वामीजी की रामायणने जो मौलिक देशकार्य किया सो यही है।

काव्यकी स्पृहणीयता।

५१ आध्यात्मिक और आधिभौतिक शास्त्रों का प्रचार एक समयावच्छेद से कभी भी नहीं हो सकता, क्यों कि ये शास्त्र परस्पर-विरोधी होने

के कारण एक दूसरे की पीछेहट करने की प्रवृत्ति रखता है। इस नियम के अनुसार तुलसी--रामायण का स्थान आज हिंदीजनता के स्मृतिपटल में ही होना चाहिये था। परंतु अत्यंत आश्चर्य की बात है कि हिंदुस्थानमें भौतिक शास्त्रका इतना जोरशोर होता जाता है तो भी स्वामीजीकी रामायण का बोलबाला उसी प्रमाणसे बढताही जा रहा है। प्रस्तुतमें तो उसकी अभिरुचि प्राय: इस द्वीप के अनेक भागोंमे अपने लिये नये अड्डे जमाती हुई स्पष्टतासे दिख रही है। आज हिंदुस्थान में गीताजी के अतिरिक्त राष्ट्रीय भाषाग्रंथों में अग्रमान तुलसीरामायण को ही प्राप्त हुआ है। सब में बड़ी विशेषता उसकी यही है।

५२ रामचरितमानस का जन्म हुए आज साढे तीन सौ वर्ष हो गये। तौभी वह नित्य नयासा ही प्रतीत होता है। इस साढ़े तीन सौ वर्ष के कालप्रवाह में, लोगोंकी अभिरुचि शीघ्रतासे बदलते रहने पर भी, उसने अपना प्रभाव 'आसेतुहैमाचलात्' अव्याहत रूपसे चलाया है। आजतक उसका प्रभाव हिंदी भाषा-भाषियों पर ही रहा। परंतु इस समय उसका दृष्टिकोण गुजराथ, बंगाल, महाराष्ट्र इत्यादि की ओर स्पष्टतासे झुका हुआ दिखता है। यह सचमुच आनंदजनक है, क्यों कि जो राष्ट्र-कार्य उसने उत्तर की ओर किया, वही अब अपने इस नये प्रांतमें भी वह करे बिना न रहेगा। राष्ट्रोद्धार उसका वादा ही है।

५३ अब बिलकुल सारांश रूपसे इतनाही कहना है कि जनदृष्टि

काव्यकी समष्टि विशेषता । बड़ी उत्कटता से रामचरितमानस पर लुब्ध होती है, इसके मुख्य कारण ये हैं:— 'विप्र-धेनु-हित संकट सहहीं' 'पाइ सुराज सुदेस सुखारी', 'जनु सुराज मंगल चहुं ओरा', 'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं' 'तौ मोहि बरजहु भय बिसराई' इ० जैसे राष्ट्रीय शिक्षा के सचेतन पाठ राष्ट्रीय जागृति के लिये राष्ट्र के सामने रखनेवाला आर्वाचीन साहित्य में यह पहिला ही ग्रंथ है । यह ग्रंथ काव्य-रसिकों को काव्यमय, आलोचकों को आलोचनामय, व्यावहारिकों को व्यवहारमय, देशभक्तों को स्वसत्तामय, भोलेभाले भावुकों को प्रेममय, उपासकों को मंत्रमय, ज्ञानियों को ज्ञानमय और रामभक्तों को राममय दिखता आ रहा है, और उन सब की कामना वह पूर्ण करता ही जा रहा है ।

श्री

तुलसीरामायण का तात्पर्य ।

अछत राम राजा अवध मरिय माँग सब कोउ ।

अन्तिम कथन

उपर्युक्त शिक्षा के सचेतन पाठ राष्ट्रकी जागृति के लिये रामायण द्वारा राष्ट्रके सामने रखनेवाले श्री गोस्वामीजी की कुशाग्र-बुद्धि और देशकल्याण की उत्कट आतुरता की जितनी प्रशंसा और कौतुक किया जाय वह थोडा ही है। धन्य है उस हुलसी माता की कुख कि जिसने निविड़ अंधकारमें डूबते हुए इस राष्ट्र के सामने यह राष्ट्रसूर्य खड़ा कर दिया। हमारी निर्धारित कहते है कि इस सूर्य का देदीप्यमान् प्रकाश जबतक सामने रहेगा तबतक घोर से घोर अंधतामिस्र में डूबते हुए व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र को अपने उद्धार के लिये हताश होने की, यत्किंचित् भी आवश्यकता नहीं।

॥ समाप्त ॥

पंचवाद (अथवा परिशिष्ट)।

——:o:——

(१)

रामायणरचना-स्थल-वाद ।

प्रस्तुत वाद के संबंध में दो भिन्न मत हैं। एक मत यह है कि रामायण की रचंना का प्रारंभ अयोध्या में हुआ और समाप्ति काशीजी में हुई। दूसरा मत यह है कि अथ से इति तक पूरा ग्रंथ अयोध्या ही में बना। पहिले मत का विशेष आधार आख्यायिकाओं पर ही है; परंतु आख्यायिकाओं की सचाई को हम तबतक कैसे मान सकते हैं जबतक उनके संबंध में हमें कोई विश्वसनीय प्रमाण न मिलें।

हम दूसरे मत का समर्थन करते हैं। इसका कारण प्रत्यक्ष ग्रंथही बतलाता है कि:—(रा. पृ. ३१)

चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥
सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी॥
विमल कथाकर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥

इससे निस्संदेह कहा जा सकता है कि काव्यारंभ अयोध्या ही में हुआ। अब रहे काव्यरचना और काव्य-प्रकाशन। इन का उत्तर भी ग्रंथ ही ने दे रखा है, और वह यह है—

' संवत सोरहसौ इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा ॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवध पुरी यह चरित प्रकासा ॥

(रा. पृ. ३१)

स्पष्ट ही दिख रहा है कि ऊपरवाली दो चौपाइयों में से पहिली काव्यरचना के संबंध में उल्लेख करती है, और दूसरी काव्य-प्रकाशन के संबंध में।

सभी बातें इतनी साफ़ हैं तो भी शिरोगामी प्रश्न के संबंध में जंग पछाड़े जा रहे ही है। इसका कारण हमें केवल पक्षपात ही प्रतीत होता है। आख्यायिकाओं पर निर्भर रहकर वादीयों को जो लाभ होता हो वह उनका वे ही जानते होंगे। हम तो तुलसीरामायण की आदि, मध्य और अवसान का सन्मान अयोध्याजी को ही रामजीने तुलसीदासजी द्वारा दिलाया ऐसाही समझते हैं।

अस्तु। परंतु इस वाद से एक बडाही नफा होता हुआ दिखाता है। ग्रंथकी रचना जब क्रमशः होती चली जाती है तब ग्रंथकी वंदना इत्यादि प्रास्ताविक भाग में हदसे हद ग्रंथ की रचना के आरंभ का उल्लेख हो सकेगा। परंतु उस भाग में ग्रंथ समाप्ति का उल्लेख होना असंभव है। उपर्युक्त अवतरणों में सभी बातें विपर्यस्त दिखाई दे रही हैं। उन में स्पष्ट ही दिख रहा है कि रचना, और उस का प्रकाशन (यानी समाप्ति) का खुलासा प्रथम होकर बाद में काव्यारंभ का खुलासा करने में आया है।

इस विपरीत क्रम से सहज ही अनुमित होता है कि, रामायण का समूचा प्रास्ताविक भाग नहीं तो, कम से कम उस में का रामचरितमानस का रूपक तो भी पूरे ग्रंथ की समाप्ति होने के बाद में ही जोड़ने में आया है।

---

(२)

दैव–पौरुष–वाद।

हम पहिले ही बतला चुके हैं कि लोक-शिक्षा का आंदोलन करने के लिये ही गोसांईजीने रामायण की योजना की। यथार्थ में आंदोलन करनेवाला केवल ही दैववादी नहीं रह सकता। इसी अनुसार गोसांईजी भी वैसे नहीं थे; यह बात उन्हीं के शब्दों से अब स्पष्ट होगी।

(रा० पृ० ७१९)

चौ०–बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रंथन्हि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक संवारा
दो०–सो परत्र दुख पावई सिर धुनि धुनि पछिताइ
कालहि कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ।

परंतु गोसांईजीका मत व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा भी न था कि दैववाद बिलकुल कुछ है ही नहीं। सब दिशाओं से प्रयत्न हो चुकने पर, उनका दैववाद आरंभ होता था। यानी उस पर वे अन्त

वे जो भरोसा रखते थे, वह केवल ही ईश्वरी इच्छा पर हवाला डालकर समाधान का एक साधन समझ के ही, जैसे कि:—

(रा० पृ० ४१)

चौ०--मोरे कहे न संशह जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं
हुइहहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढावइ साखा

यहां यह न भूलना चाहिये कि ऐसा हवाला डालना भी पौरुषोत्पन्न आत्मविश्वास का ही परिणाम है।

वारंवार यही वाद उपस्थित किया जाता है कि "हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ" (रा० पृ० ३४१) ऐसा कहने से वसिष्ठजी द्वारा तुलसीदासजी दैव का ही प्राधान्य प्रख्यापित करते हैं। हमारे मत से यह शंकाही भ्रममूलक है, क्यों कि "विधि" शब्द दैव वाचक भी है, और उद्योग वाचक भी है। ऐसे द्व्यर्थी शब्दों का जब उपयोग किया जाता है, तब प्रतिपाद्य विषय के संपूर्ण संदर्भ से ही शब्दार्थ निश्चित करना पड़ता है। यहां, भाषण का प्रयोजन भरत से राज्य कराने का है। इस कारण से "विधि" का अर्थ उद्योग वाचक ही समझना उचित है। योगवासिष्ठ के कट्टर उद्योगवादी वसिष्ठजी, ऐसे थोड़े से काम के लिये दैववादी बन जांय, और हिलाहवाला करें, यह संभव ही नहीं। इस के अतिरिक्त यह भी देखना चाहिये कि "विधि" शब्द का अर्थ भरतजीने कैसा किया है। उन्होंने भी उसका अर्थ उद्योगार्थक ही किया है, तभी तो गुरुजी की परीक्षा में, गुरुजी को ही आश्चर्यचकित करके, वे स्वयं पार निकल गये।

इस के अतिरिक्त इस वाद का निर्णय रा. पृ. ५० में भी है, और वह इस प्रकार है:—

कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार॥

इस प्रश्न को लेकर, तुरंत ही उसका उत्तर गोसांईजीने ऐसा दिया है:—

जो तप करइ कुमारि तुह्मारी। भाविउ मेटि सकइ त्रिपुरारी
(रा० पृ० ५१)

यह सिद्धान्त गहन है। इसी कारण उस में प्रवेश होने के लिये यहाँ कुछ आवश्यक बातों का परिचय कर देते हैं:—

(१) पौरुष शब्द ही मानवी शक्ति का बोध दर्शाता है, और दैव उस शक्ति की सुप्तता अथवा ऱ्हास दर्शाता है। अब बोध यानी चेतनधर्म, और सुषुप्ति अथवा ऱ्हास यानी अचेतता। परंतु अचेतन चेतन को बाधक नहीं हो सकता यह सिद्धांत है। फिर दैव उद्योग का बाधक किस प्रकार हो सकेगा?

(२) वादका मूल स्वरूप है दैव विरुद्ध पौरुष। दैव का अर्थ पूर्वजन्मों के कर्मों का (अर्थात् उद्योग का) चेतनधर्म-रूप परिपाक है, कारण कहा ही है कि 'पूर्वजन्मार्जितं कर्म दैव-मित्यभिधीयते'। अब वाद का स्वरूप अर्थात् पूर्व-जन्म-उद्योग विरुद्ध वर्तमान-जन्म-उद्योग ऐसाही हुआ। इस लडाई में जिसका बलाधिक्य होगा वही बली ठहरेगा। फिर दैव ही को प्राधान्य

क्यों ? 'दैव दैव आलसी पुकारा,' अर्थात् आलसी का हथियार दैव है । परंतु दैव की पुकार करने वाले को भी 'अत्युत्कटैः पुण्य पापैरिहैव फलमश्नुते' इस वाक्य पर ध्यान देना ही पडेगा । फिर पापपुण्य यानी उद्योग पर ही अखीरी हुई ।

(३) कहते हैं, और उस से हम सहमत भी है, कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप होनेपर भी उसकी प्रारब्धवशता नहीं छूट सकती । सही है, परंतु यहां बडी भारी समझकी भूल होने का संभव है, और उस से अवश्य बचना चाहिये । ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मीभूत होने से उसे कुछ भी विकार बाधक नहीं हो सकता । प्रारब्धवशता केवल उसके देह मात्र को है । अर्थात् इस से यही पाया गया कि प्रारब्धकी यानी दैवकी शक्ति केवल पांचभौतिक जड पर ही चल सकती है, न कि चेतन पर । तात्पर्य, केवल सांसारिक जड संबंधों पर ही दैव अपनी शक्ति चला सकेगा । उद्योग के—विशेषतः पारमार्थिक उद्योग के—सामने उसे सिर ही झुकाना पडेगा ।

---

(३)

रामायणीय धर्मशिक्षा—वाद ।

लंकाकांड में के रूपक को 'धर्म' का पारिभाषिक समझने की प्रथा है । परंतु इससे हम सहमत नहीं । वह रूपक गुरूपदेश के प्रणाली पर दिये जाने के कारण (लं. का. स. नं. १२

देखो) उसे निवृत्ति-धर्म का उपलक्षण कहना कदाचित् ठीक होगा, परंतु वह सर्वसामान्य धर्म का परिभाषिक नहीं हो सकता ।

स्वामीजीने धर्म की उपपत्ति ' धारणाद्धर्मः ' लीसी दिखाती है। उन का आशय यही दिखता है कि व्यक्तियां तथा समाजों के परस्पर विरोध हटाकर उन्हें सुसंबद्ध और सुसंगठित रखनेवाला ' धर्म ' है । यह आशय दर्शित करनेवाले प्रसंगों में से किंचिन्मात्र प्रसंग हम दर्शा देते हैं:—

भरत-गुह-भेंट (अयो. का.)
चित्रकूटपर की वसिष्ठ-गुह-भेंट (अयो. का.)
शबरी-राम-संवाद (अर. का.)
राम-वसिष्ठ-संवाद (उ. का.)

तो भी इतना तो स्वीकृत करनाही पडेगा कि इन प्रसंगोंमें भी स्वामीजीने धर्मकी अपेक्षा प्रेमका ही प्राबल्य अधिकतासे दर्शाया है।

समष्टि दृष्टिसे काव्य (रामचरित-मानस) का निष्कर्ष यही दिखता है कि निष्काम भगवद्भक्ति के द्वारा व्यक्ति और समाज संबद्ध हो कर जिस समभूमिका पर वे स्थित होते हैं वही सत्य में धर्मका स्वरूप है; और इस प्रकारक धर्मैक्य में विसंगतता उत्पन्न करनेवाला जो रजोगुणी अथवा तमोगुणी अहंकार (अर्थात् अहंकारी व्यक्ति या समाज) होता है वही प्रत्यक्ष अधर्म है ।

' धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां ' होनेके कारण धर्म का दृश्य स्वरूप निश्चित करना आजतक सभी को दुष्कर होता आया, और'

वह आगे भी वैसा ही रहेगा। इसी कारण ' महाजनो येन गतः स पंथाः ' इतनाही धर्म के दृश्य स्वरूपका उपलक्षण सर्वसामान्य जनता के लिये समझाया गया है। इसका कारण ऐसा कि यह उपलक्षणात्मक धर्म भी ' निःश्रेयसकरं भवेत् '—अर्थात् मनुष्यको मोक्ष तक पहुंचानेकी ताकत रखनेवाला है। इसी लिये हम समझते हैं कि स्वामीजीने धर्म का पारिभाषिक देना विशेष आवश्यक न समझकर स्वाचार की शिक्षाके लिये केवल सदाचार के ही पाठ अपनी रामयण में प्रारंभ से अंत तक भर दिये, और निष्काम इशप्रेम बढ़नेके राह पर व्यक्ति और समाज को लाकर छोड दिया।

हमारी समालोचनासे लोकसंग्रह के लिये अपनी रामायणमें स्वामीजीनें सार्वत्रिक धर्मका प्रमुख तत्व ' परोपकारोहि पुण्याय पापाय परपीडनम् ' यही प्रतिपादित किया है। इसी को उन्होंने ' पर उपकार बचन मन करमा। सपनेहुं जान न दूसर धरमा ' इस रूपसे कह दिया।

---

(४)

ज्ञान-भक्ति-वाद

अपनी रामायणमें तुलसीदासजीने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति ही श्रेष्ठ मानी है, और साधकबाधक प्रमाणों से वही मत सिद्ध किया है। इस विषय में ' लोकशिक्षा ' भागमें के ' भक्ति ' के

निरूपण में हमने किया हुआ उल्लेख पाठकों के स्मरण में होगा ही। तौभी इस वादके विषय में कुछ अधिक विवरण की आवश्यकता ज्ञात होने के कारण यह तुलनात्मक निरूपण किया जाता है।

गोसांईजीने उक्त वाद्को दिया हुआ तुलनात्मक संक्षेप इस प्रकार से है:—

छं०—जे ज्ञानमान--विमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी
ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सोइ समरामहे ॥ *

अब इसी का विचार करें।

वस्तु—स्थिति प्रत्यक्ष यही दिख रही है कि प्रस्थानत्रयी सदृश बड़े बड़े ग्रंथोंपर जोर लगानेवाले व्याख्याता इधर देखो तो जान मारकर कहते जाते हैं कि इस संसार में सब पापोंकी असली जड़ केवल एक अभिमान ही है, और उसके जैसा वैरी अन्य कोई है ही नहीं। परंतु उधर वस्तुस्थिति देखो तो ये व्याख्याता स्वयं ही अभिमानसे अधिकाधिक ग्रसित होते जाते हैं। इस स्थिति को देख सहज ही शंका होती है कि यह प्रस्थानत्रयी सरीखे ग्रंथोंका दोष

---

*[भाग. स्कं. १०, अ० २ श्लो० ३२, ३३]

येऽन्येऽरविंदाक्षविमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतंत्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः ॥
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यंति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरंति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥

है, अथवा इन व्याख्याताओं का ? हमारे मतसे वह व्याख्यातओं का ही दोष है। इन व्याख्याताओं की यह ज्ञाननिर्भरता केवल ही दिखावट की है। ज्ञान तो दूर ही रहा, केवल ज्ञान की बातें भी पचाने की कुंजी इन्हें मालूम नहीं रहती। इसी लिये जिसे वे ज्ञान समझते हैं उसका उन्हें अपचन होकर 'अहंकार जो दुखद डहरुआ' उनके तमाम जोडोंमें भर जाता है।

ऐसा होने का कारण स्पष्ट ही है। भक्ति के अतिरिक्त अहंकार छूट नहीं सकता, और अहंकार छूटे बिना ज्ञान जम नहीं सकता। अतः भक्ति के अभाव में ज्ञान न जम कर अहं-कार ही जमता जाता है। इसी कारण इन वेदान्तियोंको ज्ञान की बातों का अपचन होकर उनका अहंकार जोर से बढ़ता जाता है। पश्चात् इस अहंकार की वृद्धि का परिणाम स्वामीजीने उपर बतलाया जैसा होकर उनका (वेदांतियों का) देह सूखे काठ के सदृश कड़ा बन जाता। श्री एकनाथ महाराज (श्रीमद्भागवत के स्कं० ११, के टीकाकार) ने भी वैसा ही मत दिया है। वे कहते हैं—

भक्तिप्रेमाविण ज्ञान नको देवा। अभिमान नित्य नवा तया माजी॥
प्रेमसुख देई प्रेमसुख देई। प्रेमेंविण नाहीं समाधान॥
रांडवेनें जेविं शृंगारु केला। प्रेमेंविण झाला ज्ञानी तैसा॥
एका जनार्दनीं प्रेम अति गोड। अनुभवी सुरवाड जाणतील॥

(अर्थः—हे ईश्वर ! भक्तिप्रेम से शून्य ज्ञान हमें न देव, क्यों कि उस से नित्य नूतन अभिमान ही पैदा होता है। आप यदि दें तो प्रेमसुख ही दीजिये। प्रेम के बिना समाधान

हो ही नहीं सकता । प्रेमशून्य ज्ञान मानो विधवा का शृंगार है । एका जनार्दन को (श्रीजनार्दन स्वामी एकनाथ महाराज के गुरु थे । इसी लिये एकनाथजीने अपनी छाप 'एका जनार्दनी' रखी है ।) अत्यंत मिष्ट एक प्रेम ही है । अनुभवी जन ही उस सुख को जानेंगे ।)

यदि भक्तिशून्य ज्ञानका परिणाम अभिमान बढाने में न होता तो गीता का व्याख्यान संपूर्ण करनेपर श्रीकृष्णजीने अर्जुनजी को खास कर चेताया न होता कि 'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।'

उपर्युक्त सिद्धांत की सत्यता समीकरण की रीतीसे इस प्रकार दिखाई जा सकती है :—

(रा. पृ. ४५०)

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।

अर्थात् 'मैं और मेरा' और 'तूं और तेरा' यही माया है ।

मैं + तूं = माया

परन्तु मायाका 'मैं-तूं'—रूप कार्य जब प्रथम ही निर्दिष्ट हुआ उस समय 'तूं' यानी ब्रह्म और 'मैं' यानी अहंकार इनके अतिरिक्त और कुछ भी तीसरा पदार्थ था ही नहीं ।

ब्रह्म + अहं = माया *

ब्रम्ह = माया − अहं

* अन्य रीतिसे भी यह समीकरण सिद्ध होता है । ब्रह्म में जो 'अहं-ब्रह्मास्मि' स्फूर्ति हुई वह ब्रह्म की स्वगत शक्ति के कारण हुई । स्वगत शक्ति

(देखो पृ. २६४)

परन्तु ब्रह्म यानी (सत्य) ज्ञान, माया यानी भेदभान, अर्थात् अज्ञान, और -अहं यानी निरहंकारता हैं ।

∴ ज्ञान = अज्ञान + निरहंकारता

परन्तु निष्काम प्रेम से और कृतज्ञता से परमेश्वर में अहंकार का लय होना यही निरहंकारता कहलाती है । 'भक्ति' संज्ञा इसी को है ।

∴ ज्ञान = अज्ञान + भक्ति........................(१) *

(२६३ परके आगे)

कहनेका कारण यह है कि अहंस्फूर्ति होने के पहिले न तो ब्रह्मका, न उसके उस शक्तिका, नामनिर्देश हो सकता था। अहंस्फूर्ति के पश्चात् ही उस शक्ति को माया नाम लगाया गया। इससे यही हुआ कि अहं और ब्रह्म इस भेद का निर्देश माया शब्दसे किया गया है । तात्पर्य, ब्रह्म की अंगभूत [स्वगत] शक्ति को फलरूपसे माया नाम मिला है। इससे 'ब्रह्म + अहं = माया' यही सिद्ध हुआ।

अब यदि कहा जाय कि वह शक्ति ही 'ब्रह्माहमास्मि' इस स्फूर्ति का बीज, यानी प्रधान कारण, होनेसे उसीको माया कहना चाहिये, तो भी ऊपरवाले समीकरण मे फरक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि उस बीजरूप मायाने भी केवल एक 'ब्रह्म' ही न बतला कर 'अहं' को भी स्पष्ट कर दिया। इस से यही हुआ कि मायाने अहं और ब्रह्म इस द्वैत को पैदा किया। अतएव समीकरण में दिखलाना हो तो माया को इसी प्रकार दर्शाना होगा:-

माया = ब्रम्ह + अहं.

* cf:—अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ (गीता ९-२५)
जौ नर होइ चराचरद्रोही । आवइ सभय सरन तकि मोही
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना
[रा. पृ. ५५४]

ज्ञान – भक्ति = अज्ञान .... (२)+

अब देखिये कि प्रारंभमें के छंद के पूर्वार्ध में का गोसांईजी का सिद्धांत समीकरण नं० २ से सिद्ध हुआ जाता है, और उत्त-रार्धमें का समीकरण नं० १ से।

समीकरण नं० २ और नं० १ के क्रमसे यही निश्चित होता है कि भक्तिशून्य ज्ञान केवल दिल्लगी या बकझक समझना चाहिये। यह ज्ञान 'वंध्या किं विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्' ऐसा ही है। उससे भक्तियुक्त अज्ञान अत्यंत उपयुक्त समझना चाहिये, क्यों कि उस अज्ञान में से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने का संभव रहता है।

काकभुशुंडि-संवाद में के 'ज्ञानहिं भक्तिहिं अंतर केता' इस प्रश्नपर कितना और कैसा प्रकाश गिरता है वह पाठकोंको समझाने की अब हमें जरूरत नहीं दिखती।

+ Cf:—श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यंति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
[भाग० १०.१४-४]

योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू। जहां न राम प्रेम परधानू।
(रा. पृ. ४०७)

(५)

द्वैत–अद्वैत–वाद।

लोक-शिक्षा–भाग में गोस्वामीजी का दार्शनिक मत आ चुका है। वहां कहा गया है कि द्वैत और अद्वैत का यथोचित परामर्ष लेकर उन्होंने ज्ञानोत्तरा भक्ति पर विशेषता से जोर दिया है। इस विधान का समर्पक विवेचन वहां हो नहीं सका, इस लिये वह यहां होगा।

अद्वैत मत का सिद्धांत 'अहं ब्रह्मास्मि' है। और द्वैत मत का 'जीवो जीवः शिवः शिवः'। यानी अद्वैत मत जीव और ब्रह्म का ऐक्य मानता है, और द्वैत उस से इनकार कर के कहता है कि जीव जीव ही रहेगा, वह शिव हो ही नहीं सकता। परंतु ये दोनों भी मत जीव को ब्रह्मांश मानते हैं।

अब देखिये कि वेदान्तमतसे ब्रम्हमें जो 'अहंब्रम्ह' की स्फूर्त्ति हुई सोई माया है। इस से यही हुआः —

ब्रह्म + अहं = माया

परन्तु ब्रम्ह = अद्वैत, अहं = जीव, और माया = द्वैत.

∴ अद्वैत + अहं = द्वैत...............(१)

∴ अद्वैत = द्वैत – अहं...............(२)

ऊपर के समीकरण नं० (१) से ठीक ही हुआ कि अद्वैत विपरीत अभिनिवेश से द्वैत बन जाता है। परंतु समी-

करण नं० (२) से साफ दिखता है कि अभिनिवेश (अहंकार) छूट जाने पर द्वैत भी अद्वैत बन जाता। फिर द्वैत मत इस सिद्धांत का अब कैसा निराकरण करेगा ? कहनेकी गरज यह कि द्वैत में से अहंकार गल जानेपर यदि केवल अद्वैत न बचे तो बचे तो भी क्या ? *

संभव है कि ऊपर के समीकरण नं० (२) की गलती न दिखला सकने के कारण श्रीमत् आद्यशंकराचार्यजी को ही अपनी पांक्ति में खीचने का प्रयत्न द्वैती करेंगे। परंतु उधर भी वे परास्त होंगे। इस बात का अब विचार देखिये।

श्रीमत् आद्यशंकराचार्यजी का यह स्तुतिवाक्य है:—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

' नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ' इतने ही भाग पर निर्भर होकर द्वैती कहेंगे कि आचार्यजी का मत ही उन के (द्वैतीयों के) मत के सिद्धांत का समर्थन करता है। परंतु उनका यह प्रयत्न झाड़

* द्वैत मत श्रीमद्भागवत को माननेवाला है। इस कारण उसे नचिका श्लोक दिखलाया जाता है—(भाग स्कं. ४. अ. ३१, श्लो १२)

किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयाभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥

इस का अभिप्राय हम ऐसा लेते हैं—(यत्र) जिन शास्त्रों का (हरिः आत्मप्रदः न) उपासक को ब्रह्मसंपन्न करनेवाला ईश्वर विषयक निश्चय नहीं, उनके मत को कुछ कीमत ही नहीं।

का पेड़ काटकर उसके डगाली पर बैठने सरीखा ही है। प्रत्यक्ष ही नजर आ रहा है कि 'अपि' शब्द 'भेदापगमे सति' और 'तवाहं न मामकीनस्त्वम्' इन दोनों वाक्यों को संगठित कर रहा है। 'सति' सप्तमी के विशिष्टार्थकता की दृष्टि से यदि यह संगति देखी जाय तो 'भेदापगमाविशिष्ट तवाहं न मामकीनस्त्वम्' इस प्रकार से पूर्ण वाक्य बनता है। परंतु 'भेदापगम' यानी 'अद्वैत', और (द्वैती कहता है इस लिये) 'तवाहं न मामकीनस्त्वम्' यानी द्वैत। अतः 'सत्यपि.................. मामकीनस्त्वम्' यह अद्वैतविशिष्टद्वैत कहा जावेगा, न कि केवल द्वैत। परंतु अद्वैतविशिष्टद्वैत अद्वैत ही है, कारण बीज यदि अद्वैत है तो उसे फल अद्वैत का ही आवेगा ×। इस न्याय से देखने पर 'सत्यपि भेदापगमे' इस अद्वैत की 'नाथ तवाहं' इ० परिपक्वता ठहरती है। यह प्रकार हूबहू 'शिवो भूत्वा शिवं

× हमारी समझ से इसी अर्थ से भागवत को 'निगमकल्पतरो-र्गलितं फलं' कहा हुआ है। इस का अर्थ ऐसा कि निगमरूप (वेद-रूप) कल्पतरु का गलित [अर्थात् पक्व होने पर गिरा हुआ, न कि कच्चा] फल भागवत है। इसका आशय स्पष्टता से यही हुआ कि वेद केवल तरु यानी पेड़ है जिस में कुछ भी स्वाद नहीं। स्वाद सचमुच में उस के फल में ही है! तात्पर्य, केवल ब्रम्हसंपन्न होने में असली साध्य या कृतकार्यता नहीं, सच्चा साध्य ब्रम्हनिष्ठता कायम रखकर भागवत में दर्शाये हुए व्यापार किये जाने में है। कर के ही भागवत यों कह रहा है:—

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनं।

यजेत् ' जैसा ही है; यानी ' शिवो भूत्वा ' की सफलता जैसी ' शिवं यजेत् ' से होगी, वैसी ' भेदापगम ' की सफलता ' नाथ तवाहं ' इ० होने में ही समझना चाहिये ।*

यदि कोई कहे कि उपर्युक्त श्लोक आद्य आचार्यजी के प्रेम का केवल उबाल ही समझना चाहिये तो वह हमें बिलकुल नामंजूर नहीं । परंतु उतने ही कहने से उनके प्रेम का यथार्थ बोध न होगा । इस लिये प्रश्न ऐसाही घटाना पड़ेगा कि उनके प्रेम का उबाल उनकी अद्वैतनिष्ठा के साथ साथ हुआसा समझना चाहिये, कि केवल द्वैतभावनासे ? हमारे मत से वह उबाल अद्वैतविशिष्ट-द्वैतनिष्ठा का यानी अद्वैतभक्ति का समझना चाहिये ।

हमारे इस विवेचन में अद्वैत की परिपक्वता, अद्वैतविशिष्ट द्वैतनिष्ठा इत्यादि शब्द बारंबार आचुके हैं । इन शब्दों के बोध में फरक होजाने की भीति से, इस कारण उनके संबंध में हम अपनी ओर से खुलासा कर देते हैं । ब्रम्हसंपन्नता पाने के पश्चात् परमेश्वर के (अथवा गुरू के ॥) विषय में जो कृतज्ञता

---

* श्रीरामानुजाचार्यजी का द्वैतमत इसी भावना का है । इसी कारण अद्वैतविशिष्टद्वैत का संक्षेप उन्होंने विशिष्टाद्वैत से किया ।

॥ अधिकारयुक्तता से ' ब्रह्माहं ' कह सकनेवालों में से भी आज तक कोई ' गुरुरहं ' न कह सका । इतना ही नहीं, किंतु ये सभी ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मकी अपेक्षा अपने गुरुको ही श्रेष्ठ मानते आये हैं । इसे हम, ब्रह्मनिष्ठ भी कृतज्ञता छांड नहीं सकता, इस बात का बड़ा भारी सबूत समझते हैं ।

अहर्निश जागृत रहनी ही चाहिये उस कृतज्ञता के वाचक हमारे वे शब्द हैं। सारांश ' आत्मारामाश्च मुनियो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे। कुर्वंत्यहैतुकीं भक्तिं ' यह उन शब्दों का हमारा अर्थ है।

कदाचित् कोई कहे कि कृतज्ञता उर्वरित रहना भी द्वैत ही है, तो उसे उलटे हमारा ही प्रश्न सुलझाना पडेगा कि श्रीमद्भागवत में आदि से अंत तक परमेश्वर में जो कृतज्ञता की विशेषता दर्शाई है (पृ० १४५, २३२–२३४ देखिये) उस कृतज्ञता के कारण क्या परमेश्वर को भी द्वैती (यानी मायावृत=भेदरूप अज्ञान से अवगुण्ठित) ठहराने को वे तैयार हो सकेंगे ?

अब एक अलग ही दिशा से देखेंगे—

(१) देखिये कि अद्वैती पूरी निरभिमानता से ईश्वर [अथवा अपने गुरु] के सन्मुख अत्यंत कृतज्ञता से लीन होकर, यदि ' जीवो जीवः शिवः शिवः ' कहे तो उसकी क्या होगी, अवनति या उन्नति ? हमारे मत से उस की उन्नति ही होनी चाहिये, क्यों कि वह ज्ञानोत्तरा भक्ति की गोद में पहुंच रहा है।

(२) अब देखिये कि द्वैती भी पूर्ण निराभिमानता से वैसा ही कहे, तो उसे क्या होगा, लाभ या हानि ? पीछले समीकरण नं. (२) के अनुसार वह निराभिमानता के कारण अद्वैती बन चुका। अतएव उसेभी ज्ञानोत्तरा भक्ति मिलनी ही चाहिये।

(३) फिर समझिये कि अद्वैती अथवा द्वैती अभिमान रख कर अपने अपने संप्रदाय के अनुसार 'ब्रम्हाहं' तथा 'जीवोऽहं' कहे तो उसे क्या होगा ? द्वैती के संबंध में वाच्यता की आवश्यकता ही नहीं, क्यों कि उसका 'मै जीव हूं' कहना बिलकुलही सत्य है । परंतु 'मै ब्रम्ह हूं' कहने से अद्वैती केवल झूंठ बकता जा रहा है (समीकरण नं. १ देखिये) ऐसी ही स्थिती होगी ।

ऊपर दी हुई उपपत्ति से पाठकों के ध्यान में अब आया ही होगा कि स्वामीजीने द्वैत और अद्वैत मतों का उचित परमर्ष किस प्रकार किया, और स्वसंमत ज्ञानोत्तरा भक्ति को कैसा प्राधान्य दिया ।

उक्त विवेचन का सारांश यही कि 'अहं ब्रम्हास्मि' और 'जीवो जीवः शिवः शिवः' इन सांप्रदायिक वाक्यों मे वादांग नहीं । वादांग केवल एक अभिनिवेश (अहंकार) में है उस अभिनिवेश को किसी भी संत, ग्रंथ वा आचार्य ने युक्त नहीं माना है । अतएव निश्चय है कि संप्रदायों की इच्छा आचार्यों को नहीं रहती कालमान के अनुसार उनका कार्य निश्चित हो जाने के कारण वे कालकर्ता (Epoch--makers) समझे जाते हैं । संप्रदायोंके प्रवर्तक उनके बाद में उनके अभिनिविष्ट, अनभिज्ञ, अननुभविक अनुयायी ही होते हैं* । इसी कारण गोसांईजी

* जगह जगह आचार्य मंडली को सांप्रदायिक कहा हुआ देखने में आता है, और उसका कारण यही बतलाया जाता है कि अपने अपने मत को पुष्ट करने के लिये गीतादि आध्यात्मिक ग्रंथों के शब्दोंकी उन्होंने चाहे जैसी खींचातानी करके अगडबगड अर्थ निकाले हैं ।

(२७१ पृष्ठ के आगे)

शब्दार्थोंकी खींचातानी हमने कदाचित् स्वीकृत भी करली तो भी आचार्योंपर सांप्रदायिकता का आक्षेप करनेको हम तैयार नहीं। निरपवाद है कि सांप्रदायिकता साभिमानताको छोड रहही नहीं सकती। फिर जिस अभिमानको सभी आचार्य दुष्ट समझते हैं उसे वे छातीसे लगा कर क्यों रखेंगे ? संप्रदाय का (न कि कर्तव्यताका) अभिमान आचार्यों पर आक्षिप्त करने से लौकिक अभिमान (यानी दंभ) अर्थात् ही उनपर आक्षिप्त होगा। क्या ये सब आचार्य दांभिक थे यही कहना ठीक होगा ?

हमारी दृष्टिसे ये आचार्य (अर्थात् धर्मप्रवर्तक) मंडली परमेश्वर के खास रिसाले में से (corps de elite) होती है। संसार की बिगडी हुई घडी फिर ठीक तौरसे जमाने के लिये—अर्थात् जगदुपकार के कारण—परमेश्वरकी ओर से उनमें से कोई एकाद लायक सरदार भेजा जाता है। यह सरदार अपने सब बर्ताव केवल कर्तव्यपरता से निरभिमान होकर करता जाता है, और संसार के सभी कारभार चलाता रहता है। संप्रदाय (यानी दंभाचार) उसके सपनेमें भी नहीं आ सकता। लौकिक मानमान्यताकी उसे किंचित् भी पर्वा न होनेके कारण और उसकी दृष्टिमें केवल कर्तव्यताही समाई हुई होनेके कारण, उस के व्यवहार किसी किसी समय में संसारकी प्रचलित पद्धति के विरुद्ध हो जाते हैं। परंतु यह परिणाम केवल कार्यविशिष्टता का समझना चाहिये। उसे सांप्रदायिकता की दृष्टिका परिणाम कहना हमारी समझसे सुतराम् अनुचित है।

प्रस्तुत श्री समर्थ रामदासजीका ही उदाहरण लीजिये। वे स्वधर्म के लिये स्वराज्य चाहते थे। अर्थात् स्वराज्य के लिये चोरी-डांका, लूट-मार इत्यादि कृत्य भी उन्हें संमत हुए। इस से क्या यह कहना

सरीखे विचारी पुरुष संप्रदायों के जालमें स्वयं को फंसा नहीं लेते। उनका यही विचार रहता है कि व्यर्थ वाग्जल्प करके अद्वैत (ऐक्य) में द्वैत (फूट) डालनेसे अर्थ ही क्या ?

द्वैत और अद्वैत वादियों की एकवाक्यता करनेका गोसांई जीने एक बड़ा ही उत्तम उपक्रम किया है। 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' यह आथर्वणीय श्रुति है। इसके अनुसार गोसांईजी कहते हैं कि 'सगुन अगुन दोउ ब्रह्म सरूपा'। इस से स्पष्ट हो हुआ कि ब्रम्ह के सगुण और निर्गुण ये दो अंग समझना चाहिये, और इनमेंसे किसी एक अंग का ज्ञान संपूर्ण ब्रम्हज्ञान नहीं कहा जा सकता।

वादमें प्रथम द्वैती मत को उनका यह निवेदन है कि प्राण और देह, सूर्य और प्रकाश, चंद्र और कांति इत्यादि संबंधों के समान निर्गुण और सगुण का संबंध है। निर्गुण के अतिरिक्त सगुण को अवस्थिति नहीं— 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत

(२७२ पृष्ठ के आगे)

उचित होगा कि ऐसे दुष्कृत्य उनका संप्रदाय है, अथवा ऐसे संप्रदाय के वे प्रवर्तक हैं ? बली के छलके संबंध में प्रत्यक्ष भगवान् वामनजी के 'छलैरुक्तो मया धर्मः' (भाग. ८-२२-३०) ऐसे उद्गार हैं। इस से क्या वामनअवतार कपटधर्म के सांप्रदायिक आचार्य कहलाये जावेंगे ? ऐसे वर्ताव केवल जगदुपकार के लिये समयोचित और अत्यवश्य होनेके कारण केवल निरभिमानता से किये जाते हैं।

कहने की गरज यह कि संप्रदायों के प्रवर्तक आचार्य नहीं होते। उन संप्रदायोंके प्रवर्तक हमारे मतसे उनके अनभिज्ञ अनुयायी ही समझना चाहिये।

प्रेम बस सगुन सो होई '। अर्थात् ब्रम्हका प्रधान अंग निर्गुण है। अतएव द्वैत को अद्वैत के विना गत्यंतर ही नहीं।

पश्चात् अद्वैत मत को उनका यह निवेदन है कि 'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ'। इस से यही निर्णित हुआ कि सगुण स्वरूप का जानना ही ब्रह्मज्ञानका फल है, और केवल ही निर्गुण ज्ञानसे पूर्णता नहीं हो सकती। 'अहंब्रह्म' स्थिति साकल्य ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मनिष्ठता नहीं है। ब्रह्मनिष्ठता की परिपूर्णता 'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता) होने में ही है।

तात्पर्य, द्वैत को अद्वैत के अतिरिक्त स्थिति नहीं, और अद्वैत को द्वैत के अतिरिक्त पक्वता नहीं। इस बात पर ध्यान न पहुंचकर इन मतवादीयों के वाद संवाद न रहते हुए विवाद हो जाते हैं। अन्तमें परस्पर विरोध पैदा करके ये दोनों वादी 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' ऐसे ही रह जाते हैं।

तुलसी-सुभाषित ।

गुरु ।

श्रीगुरु-पद-नख-मनि-गन-जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिय दृग दोष-विभंजन ॥
होइ न विमल विवेक उर गुरु सन किये दुराव ।
गुरु कें बचन प्रतीति न जेहीं । सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेहीं ।
राखेइ गुरु जो कोप विधाता । गुरु विरोध नहिं कोऊ जग त्राता ॥
जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं । ते जनु सकल विभव बस करहीं
विनु गुरु होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ विराग बिनु ।
जे सठ गुरुसन इरिषा करहीँ । रौरव नरक कोटि जुग परहीँ ॥

सत्संग ।

मुद-मंगल मय संत समाजू । जो जग जंगम तीरथराजू
मंजनफल पेखिय ततकाला । काक होहि पिक बकउ मराला
बिनु सतसंग विवेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई
सतसंगति मुद मंगल-मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला
सठ सुधरहिँ सत संगति पाई । पारस परसि कु धातु सोहाई
बिधिवस सुजन कुसंगति परहीँ । फनि मनि सम निजगुन अनुसरहीँ
केहि न सुसंग बडप्पन पावा ।
धूमउ तजइ सहज करुआई । अगरुप्रसंग सुगंध बसाई
तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिय तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ।
साधु तेँ होइ न कारज हानी ॥
बिनु हरिकृपा मिलहिँ नहिँ संता ॥
उमा संत कै इहइ बडाई । मंद करत जो करइ भलाई
साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल कै हानी

बड़े भाग पाइय सतसंगा । बिनहिं प्रयास होइ भवभंगा
संतसंग अपवर्ग कर कामी भवकर पंथ ।
कहहिं संत कवि कोविद स्रुति पुरान सदग्रंथ ॥
संत असंतन्ह कै असि करनी । जिमि कुठार चंदन आचरनी ।
काटइ परसु मलय सुनु भाई । निजगुन देइ सुगंध बसाई ॥
ताते सुरसीसन्ह चढत जगवल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसुवदन यह दंड ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ॥
बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ अनुराग ॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा । राम तें अधिक रामकर दासा ॥
सब कर फल हरिभगति सुहाई । सो बिनु संत न काहू पाई ।
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा । राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥
पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाव खगराया ॥
संत सहहिं दुख परहित लागी । परदुख हेतु असंत अभागी ॥
भूरज-तरु-सम संत कृपाला । परहित नित सह बिपति बिसाला ॥
संत उदय संतत सुखकारी । बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥

कर्म, उपासना, ज्ञान ।

सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं । रामहिं ते सपनेहुं न सुहाहीं ।
बिनु छल बिस्व-नाथ-पद-नेहू । रामभगत कर लच्छन एहू ।
गूढउ तत्व न साधु दुरावहिं । आरत अधिकारी जहं पावहिं ॥
जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना । स्रवन रंध्र अहिभवन समाना ॥
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा । लोचन मोरपंख कर लेखा ॥
ते सिर कटु तुंबरिसम तूला । जे न नमत हरिगुरपद-मूला ॥
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी । जीवत सव समान तेइ प्रानी ॥
जो नहिं करइ राम-गुन-गाना । जीह सो दादुरजीह समाना ॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती । सुनि हरिचरित न जो हरषाती ॥

रामकथा सुंदर करतारी । संसय-बिहग-उड़ावनहारी ॥
जिन्ह कृत महा मोह मद पाना । तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना ॥
सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥
सीतापति सेवक सेवकाई । कामधेनु-सय-सरिस सुहाई ॥
जो सेवक साहिबहि सँकोची । निजहित-चहइ तासु मति पोची ॥
सेवक हित स हिब सेवकाई । करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥
राम सनेह सरस मन जासू । साधुसभा बड़ आदर तासू ॥
सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू । करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥
ईस रजाइ सीस सबहीके । उतपति थिति लय बिषहु अमीके ॥
सो सुख धरम करम जरि जाऊ । जहँ न राम-पद-पंकज-भाऊ ॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू । जहँ नहिं रामप्रेमपरिमानू ॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । सेवाधरम कठिन जग जाना ॥
स्वामि धरम स्वारथहिं बिरोधू । बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू ॥
राम रजाइ मेट मन माहीं । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥
सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ ॥
सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहुँ राम कहत जमुहात ॥
रामभगति बिनु सब सुख कैसे । लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे ॥
धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना । ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना ॥
जा तें बेगि द्रवउँ मैं भाई । सो मम भगति भगत सुखदाई ।
सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो संत होहिं अनुकूला ।
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानउँ एक भगति कर नाता ॥
भगतिहीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥
गरल सुधा रिपु करइ मिताई । गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥
गरुड़ सुमेरु रेनुसम ताहीं । रामकृपा करि चितवा जाहीं ॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी । सब-भूषन-भूषित बरनारी ॥
राम बिमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनुपाई ॥
कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई । जब तब सुमिरन भजनु न होई ॥

उमा रामसुभाय जेहि जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ॥
तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन बिस्राम ।
जब लगि भजत न राम कहँ सोक धाम तजि काम ॥
तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चापसायक कटि भाथा ॥
उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम
राम कृपा नहिँ करहिँ तसि जसि निःकेवल प्रेम ॥
अतिदीन मलीन दुखी नितहीँ । जिन्हके पदपंकज प्रीति नहीँ
नाहिँ राग न लोभ न मान मदा । तिन्हके सम वैभव वा विपदा
जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिँ तजि ध्यान ।
जे हरिकथा न करहिँ रति तिन्ह के हिय पाषान ॥
नरतनु पाइ. बिषय मन देहीँ । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीँ
भगति सुतंत्र सकल-सुख-खानी ।' बिनु सतसंग न पावहिँ प्रानी
अउरउ एक गुपत मत सबहिँ कहउँ कर जोरि ।
संकरभजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥
छूटइ मल कि मलहि के धोये । घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभिअंतर मल कबहुं न जाई
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिखान ॥
हरिसेवकहिँ न व्याप अविद्या । प्रभुप्रेरित व्यापइ तेहि विद्या.
ता तेँ नास न होइ दास कर । भेद भगति बाढइ बिहंगवर
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीँ । मोहिँ सेवकसम प्रिय कोउ नाहीँ
भगतिहीन बिरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई
भगतिवंत अतिनीचउ प्रानी । मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी
निज अनुभव अब कहउँ खगेसा । बिनु हरि भजन न जाहि कलेसा
रामकृपा बिनु सुनु खगराई । जानि न जाइ रामप्रभुताई
जाने बिनु न होइ परतीति । बिनु परतीति होइ नहिँ प्रीती
प्रीति बिना नहिँ भगति दृढाई । जिमि खगपति जलके चिकनाई

बिनु बिस्वास भगति नहिँ तेहि बिनु द्रवहिं न राम
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिस्राम ॥
काल-धर्म नहिँ ब्यापहिँ तेही । रघु-पति चरन प्रीति रति जेही
जे असि भगति जानि परिहरहीँ । केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीँ
ते जड कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिँ पयलागी
सुनु खगेस हरिभगति बिहाई । जे सुख चाहहिँ आन उपाई
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी । पैरि पार चाहहिँ जडकरनी
पुनि रघुबीरहिँ भगति पियारी । माया खलु नर्त्तकी बिचारी
भगतिहिँ सानुकूल रघुराया । ता ते तेहिं डरपति अति माया
कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिबेक
होइ घुनाच्छर न्याय जौँ पुनि प्रत्यूह अनेक ॥
ज्ञानके पंथ कृपान के धारा । परत खगेस होइ नहिँ बारा
जौँ निरबिघ्न पंथ निरबहई । सो कैवल्य परमपद लहई
अति दुर्लभ कैवल्य परमपद । संत पुरान निगम आगम बद
राम भजत सोइ मुक्ति गोसाई । अनइच्छित आवइ बरिआई
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करउ उपाई
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरिभगति बिहाई
अस बिचारि हरिभगत सयाने । मुक्ति निरादरि भगति लोभाने
सेवक सेव्य-भाव बिनु भव न तरिय उरगारि
भजहु राम-पद-पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
स्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीँ । रघुपति भगति बिना सुख नाहीँ
बारि मथे घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल
बिनु हरिभजन न भव तरहिँ यह सिद्धांत अपेल ॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरिभगति भवानी
सो कुल धन्य उमा सुनु जगतपूज्य सुपुनीत
श्री-रघु-बीर-परायन जेहि नर उपज बिनीत ॥

नाममाहात्म्य ।

भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ
बिधु बदनी सब भांति सँवारी । सोह न बसन बिना बरनारी
सब-गुन-रहित कुकबिकृत बानी । राम नाम जस अंकित जानी
सादर कहहिँ सुनहिँ बुध ताही । मधुकर सरिस संत गुनग्राही
जान आदि कवि नाम प्रतापू । भएउ सिद्ध करि उलटा जापू
नाम प्रभाउ जान सिव नीको । कालकूट फल दीन्ह अमीको
राम नाम मनि -दीप धरु जीह देंहरी द्वार
तुलसी भीतर बाहिरहुँ जौ चाहसि उजियार ॥
जाना चहहिँ गूढ़गति जेऊ । नाम जीह जपि जानहिँ तेऊ ॥
साधक नाम जपहि लउलाए । होहिँ सिद्ध अनिमादिक पाए
जपहिँ नाम जन आरत भारी । मिटहिँ कुसंकट होहिं सुखारी
चहुँ जुग चहुँ स्रुति नाम प्रभाऊ । कलि बिसेपि नहिं आन उपाऊ
अगुन सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा
मोरे मत बड नाम दुहूँ ते । किय जेहि जुग निजबस निजबूते
नाम सप्रेम जपत अनयासा । होहिं भगत मुद मंगल बासा
कहउँ कहाँ लगि नाम बडाई । राम न सकहिँ नाम गुन गाई
नहिँ कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलंबन एकू ॥
भाय कुभाय अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ
उलटा नाम जपत जग जाना । वाल्मीकि भये ब्रम्हसमाना
स्वपच सबर खस जमन जड पाँवर कोल किरात
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥
बारेक राम कहत जग जेऊ । होत तरन तारन नर तेऊ ॥
कृतजुग त्रेता द्वापरहु पूजा मख अरु जोग
जो गति होइ सो कलिहि हरिनाम ते पावहिँ लोग ॥
कलि जुग जोग जज्ञ नहि ज्ञाना । एक अधार रामगुन गाना

भक्त–वात्सल्य ।

सठ सेवककी प्रीति रुचि रखिहहि राम कृपालु
उपल किये जल जान जेहि सचिव सुमति कपि भालु ।।
प्रभु तरुतर कपि डारपर ते किय आपु समान
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान ।।
भाविउ मेटि सकहिँ त्रिपुरारी ।
हरिव्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तेँ प्रगट होइ मैँ जाना ।।
मन क्रम वचन छाँडि चतुराइ । भजत कृपा करिहहिँ रघुराई ।।
मन क्रम वचन अगोचर जोई । दशरथ अजिर विचर प्रभु सोई ।।
निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरइ जननी हठि धावा ।।
कौतुक देखि चले गुरु पाहीं । जानि बिलंब त्रास मन माहीं
जासु त्रास डर कहँ डर होई । भजनप्रभाव दिखावत सोई ।
जिनके चरन-सरोरुह लागी । करत विविध जप योग बिरागी
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुरुपद कमल पलोटत प्रीते ।
को रघुबीर सरिस संसारा । सीलु सनेहु निबाहनिहारा ।
सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ । निज अपराध रिसाहिँ न काऊ ।
जो अपराध भगत कर करई । राम रोष पावक सो जरई ।
कोमल चित अति दीन दयाला । कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ।
उमा राम सम हित जग माहीँ । गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीँ
सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा । विस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा
कोटि विप्र बध लागहि जाहू । आये सरन तजउँ नहिँ ताहू
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीँ । जनम कोटि अघ नासउँ तबहीँ
निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।
उमा राम मृदु चित करुनाकर । वैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर ।
देहिँ परम गति सो जिय जानी । अस कृपालु को कहहु भवानी ।
जन अवगुण प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ।।

नीति ।

ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग
होहिँ कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिँ सुलच्छन योग ॥

जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा । जाइय बिनु बोलेहु न सँदेहा
तदपि बिरोध मान जहँ कोई । तहाँ गये कल्यान न होई ॥
मातुपिता गुरु प्रभु के बानी । बिनहिँ बिचार करिय सुभ जानी ॥
जिन्ह कै लहहिँ न रिपु रन पीठी। नहिँ लावहिँ परतिय मन डीठी
मंगन लहहिँ न जिन्ह कै नाहीँ । ते नरवर थोरे जग माहीँ ॥
क्षत्रियतनु धरि समर सकाना । कुल कलंक तेहि पावर जाना ॥
बधू लरिकिनी परघर आई । राखेहुँ नयन पलक की नाई ॥

सहज सुहृद-गुरु-स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि ।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हितहानि ॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहुँते ताते ॥
तन धन धाम धरनि पुर राजू । पति बिहीन सब सोक समाजू
भोग रोग सम भूषन भारू । जम-जातना-सरिस संसारू
जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी । तइसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
जासु राज प्रियप्रजा दुखारी । सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥
संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥
मेटि जाइ नहिँ रामरजाई । कठिन करमगति कछु न बसाई ॥
मुनि तापस जिन्ह ते दुख लहहीँ। ते नरेस बिनु पावक दहहीँ
मंगल मूल बिप्रपरितोषू । दहइ कोटि कुल भू-सुर-रोषू ॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना
सोचिय बयसु कृपिन धनवानू । जो न अतिथि-शिवभगति सुजानू
सोचिय सूद्र बिप्र अपमानी । मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी
सोचिय पुनि पतिबंचक नारी । कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी
सोचिय बटु निजब्रत परिहरई । जो नहिँ गुरु आयसु अनुसरई
सोचिय गृही जो मोहबस करइ करमपथ त्याग ।

सोचिय जती प्रपंचरत विगत विवेक विराग ॥
वैषानस सोइ सोचन जोगू । तप विहाइ जेहि भावइ भोगू
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी । जननि–जनक–गुरु बंधु विरोधी
सब विधि सोचिय परअपकारी । निज तनुपोषक निरदय भारी
सोचनीय सबही विधि सोई । जो न छाँडि छल हरिजन होई ॥
गुरु पितु मातु स्वामि हितवानी । सुनि मन मुदित करिय भलि जानी
उचित कि अनुचित किये विचारू । धरम जाइ सिर पातक भारू ॥
वादि वसन विनु भूषण भारू । वादि विरति विनु ब्रह्मविचारू
सरुज सरीर वादि बहु भोगा । विनु हरिभगति जाय जप जोगा ॥
जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहज सहाइ ॥
करइ स्वामिहित सेवक सोई । दूषन कोटि देइ किन कोई ॥
साधु समाज न जाकर लेखा । रामभगत महँ जासु न रेखा ॥
जाय जियत जग सो महिभारू । जननी–जौवन विटप–कुठारू ॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहिँ न पापपुंज समुहाहीं ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं । कहहिँ वेद बुध ते बुध नाहीं ॥
धीरज धरम मित्र अरु नारी । आपदकाल परिखियहि चारी ॥
सेवक सुख चह मान भिकारी । व्यसनी धन सुभगति व्यभिचारी
लोभी जसु चह चार गुमानी । नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी ॥
राज नीति विनु धन विनु धर्मा । हरि हि समर्पे विनु सतकर्मा
विद्या विनु विवेक उपजाये । स्रम फल पढे किये अरु पाये
संग तेँ जती कुमंत्र तेँ राजा । मान तेँ ज्ञान पान तेँ लाजा
प्रीति प्रनय विनु मद तेँ गुनी । नासहिँ वेगि नीति अस सुनी
रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि ॥
नवनि नीच के अति दुख दाई । जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ।
। नवहि विरोधे नहिँ कल्याना
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी । वैद्य बंदि कवि भानसगुनी ॥

इमि कुपंथ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुधि लवलेसा ॥
परहित वस जिन्ह के मन माहीँ । तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीँ ॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय । भूप सुसेवित बस नहिँ लेखिय
राखिय नारि जदपि उर माहीँ । जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीँ ॥
सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी । कपटी मित्र सूलसम चारी ॥
अनुजवधू भगिनी सुतनारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिँ सब प्रीती ।
नारि–नयन–सर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निसि जो जागा
लोभ पास जेहि गर न बंधाया । सो नर तुम्हसमान रघुराया ।
देह धरे कर यह फलु भाई । भजिय राम सब काम विहाई
सोइ गुनज्ञ सोई बड भागी । जो-रघुवीर चरन अनुरागी ॥
सचिव वैद गुरु तीनि जौँ प्रिय बोलहिँ भय आस
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिही नास ।
चौदह भुवन एक पति होई । भूत द्रोह तिष्टइ नहिँ सोई ।
गुनसागर नागर नर जोऊ । अलप लोभ भल कहइ न कोऊ ॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥
सरनागत कहँ जे तजहिँ निज अनहित अनुमानि
ते नर पाँवर पाप मय तिन्हहिँ विलोकत हानि ।
सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपिन सन सुंदर नीती
ममतारत सन ज्ञान कहानी । अति लोभी सन बिरति बखानी
क्रोधिहि सम कामिहिँ हरिकथा । ऊसर बीज बये फल जथा ॥
काटेहि पै कदली फरइ कोटि जतन कोउ सींच
बिनय न मान खगेस सुनु डाँटेहि पै नव नीच ।
गगन समीर अनल जल धरणी । इन्ह कइ नाथ सहज जड करनी ॥
ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी । सकल हि ताडन के अधिकारी ॥
सिवद्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहु मोहिं न पावा ॥
संकर विमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ मति थोरी ॥

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महँ बास ।
प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं । ऐसे नर निकाय जग अहहीं ॥
बचन परमहित सुनत कठोरे । सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे
नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं
साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक असौच अदाया ॥
फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद
मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सिव ।
प्रीति विरोध समान सन करिय नीति असि आहि
जौं मृगपति बध मेडुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि ।
कोल काम बस कृपिन विमूढा । अतिदरिद्र अजसी अतिबूढा
सदा रोगबस संतत क्रोधी । विष्णु विमुख स्रुतिसंत विरोधी
तनु पोषक निंदक अघखानी । जीवत सवसम चौदह प्रानी ॥
कालु दंड गहि काहु न मारा । हरइ धर्म बल बुद्धि विचारा
परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीडासम नहिं अधमाई
सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखियहिं देखिय सो अविवेक ॥
पुन्य एक जगमहं नहिं दूजा । मन क्रम वचन विप्र-पद-पूजा
कवि कोविद गावहिं असि नीती । खल सन कलह न भल नहिं प्रीती
उदासीन नित रहिय गोसाईं । खल परिहरिय स्वान की नाईं
दीप-सिखा सम युवतिजन मन जनि होसि पतंग ।
भजहिं राम तजि काम मद करहिं सदा सतसंग ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा
देत लेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई
बिपति काल कर सतगुन नेहा । स्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥
स्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास ।
पाइ उमा अति गोप्य अपि सज्जन करहिं प्रकास ॥
संत संभु श्रीपति अपवादा । सुनिय जहाँ तहँ असि मरजाद

काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि न तु चलिय पराई।
बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं।
रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिय न ताहु।
अजहुँ देत दुख रवि ससिहि सिर अवसेषित राहु॥
......क्रोध पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिँ चरहिँ बिस्वप्रतिकूल॥
......पितु आयसु सब धरमक टीका।
एहि तेँ अधिक धरमु नहिँ दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा
पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई
नतरु बांझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तेँ हितहानी
धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।
गुरु पितु मातु स्वामि सिख पाले। चलेहु सुगम पथ परहिँ न खाले
मुखिया मुखसो चाहिये खानपान कहँ एक
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक
राज-धरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई।
मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भू-सुर-सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥
सापत ताडत परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिँ संता॥
पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना। सूद्र न गुन-गन ज्ञान प्रवीना॥
पुन्य एक जगमहं नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र-पद-पूजा॥
तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञानधाम मन करहिँ निमिष महँ छोभ।
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥
जे न मित्र दुख होहिँ दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी।
निज दुख गिरिसम रज करि जाना। मित्रक दुखरज मेरु समाना
जिन्हके असि मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई।
पन्नगारि असि नीति स्रुति-संमत सज्जन कहहिँ

अति नीचहु सन प्रीति करिय जानि निज परम हित ।
स्वारथ साँच जीव कहँ एहा । मन क्रम बचन रामपद नेहा ।

स्फुट ।

उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खलरीति ।
बायस पलिअहि अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा
भले भलाई पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु
सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीचु ॥
काल सुभाऊ करम बरिआई । भलेउ प्रकृतिबस चुकइ भलाई ।
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू । मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू
लखि सुबेष जग बंचक जेऊ । बेष प्रताप पूजि अहिं तेऊ
उघरहिं अंत न होइ निबाहू । कालनेमि जिमि रावन राहू
किएहु कुबेष साधु सनमानू । जिमि जग जामवंत हनुमानू
हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहु बेद बिदित सबकाहू ।
कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरिसम सब कहँ हित होई ।
गगन चढइ रज पवन प्रसंगा । कीचहिं मिलहि नीच जलसंगा ।
भयदायक खलके प्रियबानी । जिमि अकालके कुसुम भवानी ।
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।
प्रभु अपने नीचहु आदरई । अगनि धूम गिरि सिर तृन धरई ।
साधु सुजान सुसील नृपाला । ईस-अंस भव परमकृपाला ॥
चारि खानि जग जीव अपारा । अवध तजे तन नहिं संसारा ।
होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तरक बढावइ साखा ॥
जल पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि ।
बिलग होइ रस जाइ कपट खटाई परत पुनि ॥
समरथ कहँ नहि दोष गोसाईं । रवि पावक सुरसरि की नाईं ।
सुरसरिजल कृत बारुनि जाना । कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना ।
सुरसरि मिले सो पावन जैसे । ईस अनीसहिं अंतर तैसे ।

श्रुति कह परम धरम उपकारा ।
परहित लागि तजइ जो देही । संतत संत प्रसंसहि तेही ।
नारिधरम पति देव न दूजा
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे
हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना । जीव धरम अहिमिति अभिमाना ।
बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ।
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ज्ञानगुन-धामू
करहिँ अनीति जाइ नहिँ बरनी । सीदहिँ बिप्र धेनुसुरधरनी
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिँ कृपानिधि सज्जनपीरा
असुर मारि थापहिँ सुरन्ह राखहिँ निज स्रुति सेतु
जग बिस्तारहिँ बिसद जस राम जनम कर हेतु ॥
.... । ज्ञानी मूढ न कोइ
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ ॥
सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू । बड रखवार रमापति जासू ॥
राम कीन्ह चाहहिँ सोइ होई । करइ अन्यथा अस नहिँ कोई ।
अतिप्रचंड रघुपति के माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ॥
तुलसी जसि भवितव्यता तैसइ मिलइ सहाइ ।
आपु न आवइ ताहिँ पहिँ ताहि तहाँ लेइ जाइ ॥
जोग जुगति तप मंत्र प्रभाऊ । फलइ तबहिँ जब करिय दुराऊ ।
भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम
धूरि मेरुसम जनक जम ताहि ब्यालसम दाम ।
हिंसापर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवनमिति ॥
मानहिँ मातु पिता नहिँ देवा । साधुन्ह सन करवावहिँ सेवा
जिन्हके यह आचरन भवानी । ते जानहु निसिचर सब प्रानी ॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरे न काऊ ॥
मंत्र परम लघु जासुबस बिधि हरि हर सुर सर्ब ।

महामत्त गजराज कहँ बस कर अंकुस खर्व ॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा । मुये करइ का सुधातड़ागा ॥
का बरषा जब कृषी सुखाने । समय चुके पुनि का पछिताने ॥
मन मलीन तनु सुंदर कैसे । विषरस भरा कनकघट जैसे ॥
टेढ़ जानि संका सब काहू । बक्र चंद्रमहिँ ग्रसइ न राहू
जिमि सरिता सागर पहँ जाहीँ । जद्यपि ताहि कामना नाहीं
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाये । धरमसील पहिँ जाहि सुभाये ।
बचा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा ॥
अरिबस दैव जियावत जाही । मरनु नीक तेहि जीवन चाही
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे
नहिँ असत्यसम पातक पुंजा ॥
निज प्रतिबिंबु बरुक गहि जाई । जानि न जाइ नारिगति भाई
काह न पावक जारि सक का न समुद्र समाइ
का न करइ अबला प्रबल केहि जग काल न खाइ ।
लिखत सुधा कर गा लिखि राहू । विधिगति बाम सदा सबकाहू ॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू । राम सीय पद सहज सनेहू ॥
रामचरन-पंकज प्रिय जिन्हहीँ । विषय भोग बस करहिँ कि तिन्हहीं॥
काहु न कोउ सुख दुःख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥
सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ
जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ ।
मोह निसा सब सोवनिहारा । देखिय सपनें अनेक प्रकारा
एहि जग जामिनि जागहिँ जोगी । परमारथी परपंच वियोगी
जानिय तबहिँ जीव जग जागा । जब सब विषय विलास बिरागा
होइ विवेक मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा । हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा
काल करम बस होहिँ गोसाईँ । बरबस राति दिवस की नाईँ ॥
सुख हरषहिँ जड दुख बिलखाहीँ। दोउ सम धीर धरहिँ मनमाहीँ ॥

बिधिहु न नारिहृदय गति जानी । सकल कपट अघ अवगुन खानी॥
हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ
सोचिय बिप्र जो बेदबिहीना । तजि निज धरम बिषय लयलीना॥
भरत सरिस को रामसनेही । जग जपु राम राम जपु जेही ॥
होत न भूतल भाउ भरतको । अचर सचर चर अचर करत को॥
कसे कनकमनि पारिखि पाये । पुरुष परिखियहि समँय सुभाये ।
रमाबिलास रामअनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥
उमा रामगुन गूढ पंडित मुनि पावहिँ बिरति .
पावहिँ मोह बिमूढ जे हरिबिमुख न धरमरति ।
राखि को सकइ राम कर द्रोही ।
सब जग तेहि अनलहुतेँ ताता । जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता ॥
अमित दानि भर्ता बैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
कहिय तात सो परम बिरागी । तृनसम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥
माया ईस न आपु कहँ जानि कहिय सो जीव
बंध मोच्छ प्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव ।
भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी । जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी
जथा धर्म सीलन्ह के दिनसुख संजुत जाहिँ ।
फल भर नम्र बिटप सब रहे भूमि नियराइ
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिँ सुसंपति पाइ ।
अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि ।
तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥
सगुन उपासक पर-हित-निरत निरत नीति दृढ नेम
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज-पद-प्रेम ।
चरित राम के सगुन भवानी । तरकि न जाहिँ बुद्धि बल बानी॥
पर उपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहिँ ते नर न घनेरे ॥
ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिस्राम.

भूतद्रोहरत मोहबस रामविमुख रतकाम।
सेवत विषय विबर्ध जिमि नित नित नूतन मार।
मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥
ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार
केहि कै लोभ विडंबन कीन्ह न एहि संसार॥
काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ॥
रामचरित जे सुनत अघाहीं। रसविशेष जाना तिन्ह नाहीं।
ते जड़ जीव निजात्मघाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती
श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि
मृगलोचनि-लोचन-सर को अस लाग न जाहि।
निगुनरूप सुलभ अति सगुन न जानहिं कोइ
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥
सुनहु रामकर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ
संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना
ज्ञान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर
जौं सब के रह ज्ञान एकरस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
मायावस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी
परबस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।
मुधा भेद जद्यपि कृतमाया। विनुहरि जाइ न कोटि उपाया॥
कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
विनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं
राम भजन बिनु मिटहि कि कामा। थल विहीन तरु कबहुँ कि जामा॥
विनु विज्ञान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ विनु पावइ।
स्रद्धा बिना धरम नहीं होई। विनु महि गंध कि पावइ कोई।
विनु तप तेज कि कर विस्तारा। जल विनु रस कि होइ संसारा।
सील कि मिल विनु बुधसेवकाई। जिमि विनु तेज न रूप गुसाईं
निजसुख विनु मन होइ कि थीरा। परस कि होइ बीहीन समीरा

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा । बिनु हरि भजन न भव भय नासा
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा । जो तनु पाइ भजिय रघुवीरा
रामविमुख लहि बिधिसम देही । कवि कोविद न प्रसंसहि तेही
कवनेहु जनम अवध बस जोई । रामपरायन सो फुर होई ॥
कलिकाल बिहाल किये मनुजा । नहिँ मानत कोउ अनुजा तनुजा ।
नहिँ तोष विचार न सीतलता । सब जाति कुजाति भये मंगता ।
इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला । कालदंड हरिचक्र कराला
जो इन्ह कर मारा नहिँ मरई । बिप्रद्रोह पावक सो जरई ॥

द्वैत-बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अज्ञान ।
मायावस परिछिन्न जड जीव कि ईस समान ॥

कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके । तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके ।
परद्रोही कि होइ निःसंका । कामी पुनि कि रहहि अकलंका ॥
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे । कर्म कि होहिँ स्वरूपहिँ चीन्हे।
काहू सुमति कि खलसँग जामी । सुभगति पाव कि परतियगामी ।
भव कि परहिं परमातम बिंदक । सुखी कि होहिँ कबहुँ परनिंदक ।
राज कि रहइ नीति बिनु जाने । अघ कि रहइ हरिचरित बखाने ।
लाभ कि कछु हरिभगति समाना । जेहि गावहिं स्रुति संत पुराना ॥
हानि कि जग एहि सम कछु भाई । भजिय न रामहिँ नरतनु पाई ।
पावन जस कि पुन्य बिनु होई । बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ।
अघ कि पिसुन तामस कछु आना । धर्म कि दया सरिस हरिजाना ।
नरतनु सम नहिँ कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत जेही
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ज्ञान बिराग भगति सुखदेनी ॥
नहिँ दरिद्रसम दुख जग माहीं । संत मिलन-सम सुख कछु नाहीं ॥
परम धरम स्रुति बिदित अहिंसा । परनिंदा सम अघ न गिरीसा ॥
मोह सकल व्याधिन कर मूला । तेहि तेँ पुनि उपजइ बहु सूला ॥
जानिय तब मन बिरुज गोसांई । जब उरबल बिराग अधिकाई ॥
धर्म तेँ बिरति जोग तें ज्ञाना । ज्ञान मोक्ष-प्रद बेद बखाना ॥
कलिकर एक पुनीत प्रतापा । मानस पुन्य होइ नहिँ पापा ॥

कलिजुग सम जुग आन नहिँ जो नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुनगन बिमल भव तर बिनहिँ प्रयास ॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जग साधे ॥
रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भवबंधन छोरी।
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सोँ भय भाखे ॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुर सरि सम सब कहँ हित होई ॥
आगे कह मृदु बचन बनाई। पीछे अनहित मन कुटिलाई
जाकर चित अहिगति-सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई।
बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्टसंग जनि देइ बिधाता
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहिमूषक इव सुनु उरगारी
परसंपदा बिनासि नसाहीँ। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं ॥
दुष्ट हृदय जग आरत हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रहकेतू ॥
सन इव खल परबंधन करई। खाल कढाइ बिपति सहि मरई ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जनम द्विज भगति अभंगा ॥